मानव व्यवहार दर्शन

卐 ॐ 卐

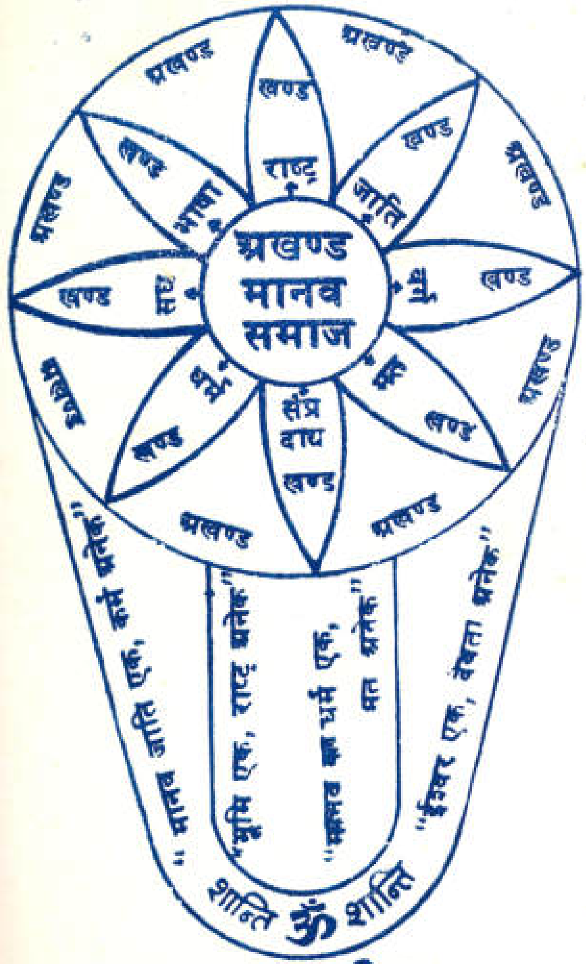

ॐ शान्ति

प्रणेता एवम् लेखक

ए. नागराज शर्मा

सर्वाधिकार—

प्रणेता एवम् लेखक के पास सुरक्षित

द्वितीय संस्करण के प्रकाशक—

श्री किशोर समिति,
राधेश्याम भवन,
सा ग र।

प्राप्ति स्थान—

श्री भजनाश्रम
श्री नर्मदांचल
पोष्ट अमरकंटक
जिला शहडोल
म० प्र० (भारत)

जीने दो और जियो।

- भूमि एक, राष्ट्र अनेक।
- मनुष्य की जाति एक, कर्म अनेक ॥
- मानव का धर्म एक, मत अनेक ॥।
- ईश्वर एक, देवता अनेक ॥॥

जाने हुए को मान लो,
माने हुए को जान लो।

भूमिः स्वर्गताम् यातु, मनुष्यो यातु देवताम् ।

धर्मो सफलताम् यातु, नित्यम् यातु शुभोदयम् ।।

दो शब्द

(प्रथम संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तक "मानव-व्यवहार-दर्शन" पूज्यनीय श्री ए० नागराज शर्मा की लम्बी तपस्या एवम् प्रकृति-प्रदत्त प्रेरणाओं की अनुभूतियों का सूक्ष्म सूत्र रूप में संकलन है। जिस प्रकार जीवन को सुखी बनाने के लिये विघ्न बाधाओं तथा असामाजिक तत्वों से सुरक्षित रहने के लिये शासन की विधान व्यवस्था है, उसी प्रकार मानव-जीवन प्रसुन को प्रकृति के प्रांगण में, प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में निर्बाध गति से विकसित होने देने के लिये आध्यात्मिक स्तर पर, महाराज जी की महती अनुकम्पा से जो भी उपदेशामृत प्राप्त हुए हैं, वही इस पुस्तक के रूप में प्रेमी पाठकों को समर्पित हैं।

श्री नागराज जी ने प्रकृति के अंचल में, सपत्नीक अमरकंटक आ कर, माँ नर्मदा की साक्षात गोद में २२ वर्ष लम्बी तपस्या की है। उसी तपस्या के फलस्वरूप इस पुस्तक में जितने भी सूत्र दिए हैं, वह उन्हें सीधे प्रकृति से ही प्राप्त हुए हैं। इन सब का एक ही उद्देश्य है-मानव जन जाति आज हिंसा, आतंक, विग्रह, निग्रह, द्रोह, विद्रोह, छल, कपट, पाखण्ड, हीनता, दीनता और क्रूरता से मुक्त हो कर, सहज स्वच्छन्द जीवन व्यतीत कर सके। उसी श्रृङ्खला के अनुसार यह प्रयास है। आपने अपने सूत्रों को अधिकांशतः परिभाषा की शैली अपनाते हुए ही मानव जीवन के समस्त व्यवहारों को अभिव्यंजित करने का प्रयास किया है।

आज के वैज्ञानिक युग में मानव अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये सतत् संघर्ष कर रहा है। विज्ञान की विध्वंसकारी प्रवृत्तियाँ अपने पूर्ण आक्रोश के साथ जगत के स्वरूप को निगलने के लिए मुंह बाए खड़ी हैं। पदार्थ-विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर आध्यात्मिकता को दबा ही देना चाहता है। इन्हीं सब कठिनाइयों में संघर्षरत मानव को किस प्रकार विज्ञान की सहायता से भौतिक समृद्धि और विवेक से आध्यात्मिकता एवम् शान्ति

मिल सकेगी, किस प्रकार वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक पद्धति का समुचित सन्तुलन प्राप्त किया जा सकता है—यही दर्शाना 'मानव-व्यवहार-दर्शन' का लक्ष्य है।

मानव, मानव बन कर जिये; जीवन में सुख और शान्ति का अनुभव कर सके और जीवन में विकास की ओर गति शील रहे, इसी के कुछ आधारभूत तथ्य इस पुस्तक में संगृहीत हैं। इसका महत्व प्रेमी पाठक मनन, चिन्तन एवम् वैज्ञानिक क्रियाशीलता के आधार पर ही ग्रहण कर सकेंगे। इसी सर्वजनहिताय की भावना से उत्प्रेरित होकर स्वामी जी की दीर्घकालीन तपस्या से प्राप्त इन पुष्पों को 'मानव-व्यवहार-दर्शन' के रूप में उन्हीं की आज्ञा से मानव समाज को सादर समर्पित है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्व भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत ॥

तिथि २७-५-१९७२.

गणेशदत्त कटारा
विकास सहायक
निवास (मण्डला)

"मानव व्यवहार दर्शन"—एक परिचय

(द्वितीय संस्करण)

मनाकार को साकार करने वाले और मनः स्वस्थता के आशावादी की मानव संज्ञा है। एक से अधिक एकत्र होने के लिये जो श्रम है-उसे व्यवहार की संज्ञा है। दृष्टि से प्राप्त जानकारी की दर्शन संज्ञा है।

मानव और दर्शन के बीच में व्यवहार है। दर्शन के लिए दर्शक और दृश्य का होना आवश्यक है। यहाँ मानव दर्शक है और जिसका वह दर्शन करता है, वह दृश्य है। इस तरह दर्शक के लिए दो इकाईयाँ सिद्ध हुईं। इन दोनों इकाईयों के बीच सम्पर्क स्थापित करने के लिये जो श्रम है, वह व्यवहार है।

समस्त व्यवहार में श्रम है। समस्त श्रम का नियोजन विश्राम के लिये है। विश्राम का अर्थ है, श्रम का अभाव। जब तक क्रिया है, तब तक श्रम है ही और व्यवहार भी है। यह एक सर्व-विदित तथ्य है कि मानव एक चैतन्य इकाई है और इस चैतन्य इकाई के कार्य करने का माध्यम यह शरीर है। मात्र शरीर ही मानव नहीं है, अपितु यह शरीर चैतन्यता से सम्पन्न होकर चैतन्य शरीर की संज्ञा पाता है।

मानव दो प्रकार के व्यवहार में व्यस्त है।

१. बहिरंग व्यवहार, २. अन्तरंग व्यवहार।

बहिरंग व्यवहार शरीर के कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है, जबकि अन्तरंग व्यवहार मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि द्वारा आत्मा के अनुशासन में सम्पादित किया जाता है। समस्त बहिरंग क्रियाएं अन्तरंग क्रियाओं के आश्रय में रहती ही हैं।

मन, वृत्ति, चित्त और बुद्धि आत्मा के अभिन्न अंग हैं। इन चारों सहित आत्मा की 'चैतन्य-पुंज' संज्ञा है। इस चैतन्य-पुंज के आश्रय में ही शरीर का

समस्त कार्य है। यह स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है कि चैतन्य-पुंज और शरीर दो अलग अलग सत्ता हैं। एक जड़ है, माध्यम है, साधन है तथा दूसरा चैतन्य है, मध्यस्थ है, साधक है। इसे इस प्रकार समझें—

एक यंत्र है। वह बिजली से संचालित है। जब तक बिजली का प्रवाह है तब तक यन्त्र चलता है। जब बिजली का प्रवाह रुक जाता है, यन्त्र की क्रिया भी समाप्त हो जाती है अर्थात् यंत्र में स्वयं में कोई ऊर्जा नहीं है जिससे वह चालित है, अपितु ऊर्जा बाहर से है, यंत्र से स्वतंत्र, पर यंत्र के चालन के समय उस सम्पूर्ण यन्त्र में सर्वत्र उसकी सत्ता परिलक्षित होती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा-पुंज एक अलग इकाई है जिससे ऊर्जा का प्रसारण होता है। यह ऊर्जा पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर में इस ऊर्जा का कहीं अभाव नहीं होता। शरीर रूपी यंत्र के कार्य करते समय इस ऊर्जा की अलग से प्रतीति सम्भव नहीं है। फिर भी, इस यन्त्र का कार्य बन्द कर देना ही इस बात का प्रमाण है कि ऊर्जा कहीं अन्यत्र से प्रवाहित है। इसका श्रोत कहीं और था। यन्त्र के कार्य न करने का दो ही अर्थ हो सकता है—या तो ऊर्जा के प्रवाह का श्रोत बन्द हो गया अथवा यंत्र ही खराब हो गया। जिस प्रकार विद्युत प्रवाह का श्रोत निरन्तर रहता है, पर यन्त्र की ग्राह्य क्षमता में कोई त्रुटि आ जाने से ऊर्जा की अप्राप्ति के फलस्वरूप यन्त्र का कार्य बन्द हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-पुंज से ऊर्जा के प्रवाह की निरन्तरता बनी ही रहती है, मानव शरीर रूपी यंत्र की ग्राह्य क्षमता ही समाप्त हो जाती है। जब विद्युत (सापेक्ष शक्ति) के श्रोत का अभाव सिद्ध नहीं होता तो आत्म-पुंज, जो चैतन्य है, उसकी ऊर्जा के अभाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के जड़ होने के फलस्वरूप इनमें क्रिया-हीनता और फल-क्रम का अभाव अथवा विश्राम सम्भव नहीं है अतः इनसे व्यवहार का अभाव सिद्ध नहीं होता।

तब विश्राम कहाँ है ?

विश्राम की अनुभूति कहाँ है ? यह जानने के प्रयास से पूर्व यह निर्भ्रम जानकारी निष्ठापूर्वक हमारी बुद्धि में प्रतिष्ठित हो जानी चाहिए कि शरीर

के कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की कार्य-क्षमता सीमित है, क्योंकि वह स्वयम् सीमित है, वह क्रिया का फल ही होगा, यह निर्विवाद सत्य है और जब तक क्रिया है, तब तक विश्राम नहीं है। जब तक क्रिया है, तब तक दर्शन है। जब तक दर्शन है, तब तक उसका भाषा द्वारा प्रकटीकरण सम्भव है। यह दर्शन और उसका प्रदर्शन-जहाँ तक जड़ता है वहीं तक सम्भव है। जड़ता से परे जो प्रभाव है उसका प्रदर्शन सम्भव नहीं है। इसका मात्र दर्शन और अनुभूति ही सम्भव है। जड़ता से सम्बन्धित जितनी भी अनुभूतियाँ हैं, उनको मेधस ग्रहण करता है, क्योंकि वह भी जड़ है और मेधस में जो आघात होता है, उसका प्रत्यक्षीकरण चैतन्य इकाई, आत्म-पुंज, में होता है।

चूँकि मन की अवस्थिति चैतन्य इकाई (आत्मा, बुद्धि, चित्त, वृत्ति और मन) जड़-शरीर के मध्य है, परिणामतः इसे चैतन्य इकाई और जड़-शरीर दोनों का ही सम्पर्क प्राप्त है। अतः मन जड़ शरीर और चैतन्य इकाई दोनों से प्रभावित, यन्त्रित और नियन्त्रित है। मन शरीर द्वारा यन्त्रित तथा चैतन्य इकाई के अन्य अंगों द्वारा नियंत्रित है।

जड़ शरीर के मन, जीव शरीर के मन और चैतन्य शरीर के मन में पर्याप्त साम्यता है। चैतन्य इकाई में स्थित वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा की तुलना में अविकसित होने के कारण मन जड़ शरीर से अपने सम्बन्ध को बनाए रखने में अधिक स्वतन्त्रता और सुगमता का अनुभव करता है, क्योंकि यह जड़ शरीर की अपेक्षा अधिक विकसित है। साथ ही वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा, ये इससे अधिक विकसित होने के कारण मन की क्रिया को प्रभावित करते ही रहते हैं, जो इसे जड़ता से मुक्त होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। इन इकाईयों के अधिक विकसित होने के कारण मन को इनका संकेत ग्रहण करना ही पड़ता है। उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि मन शरीर से अधिक सम्बद्ध है तथा मन का कोई भी कार्य शरीर के ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की सहायता के बिना सम्पादित नहीं हो सकता।

अन्तरंग व्यवहार में चैतन्य इकाई का जो दूसरा अंग व्यवहार में भाग लेता है वह वृत्ति है और यदि सूक्ष्मतः देखा जाय तो अन्तरंग क्रिया में

चैतन्य इकाई का भाग लेने वाला प्रथम अंग वृत्ति ही है। मन तो अपने को बहिरंग व्यवहार तक ही सीमित रखता है।

वृत्ति से तुलनात्मक क्रिया, चित्त से चित्रण क्रिया, तथा बुद्धि से बोध क्रिया सम्पादित की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि वृत्ति से लेकर बुद्धि तक की समस्या क्रियाएँ कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग के बिना सम्पादित की जाती हैं।

जब बहिरंग व्यवहार की अनुपयोगिता विश्राम की अनुभूति में सिद्ध हो जाती है, तब प्रखर अन्तरंग क्रियाएँ आरंभ होती हैं तथा ज्योंही यह अन्तरंग क्रियाएँ आरंभ होती हैं, त्योंही मन सुप्त हो जाता है, उदासीन हो जाता है क्योंकि इन क्रियाओं में शरीर के किसी भी अंग का कोई भी भाग कार्यशील नहीं होता और मन स्वयम् को शरीर से आबद्ध रखने का आदी है। इस स्थिति में मन एवम् शरीर की अत्यंत आवश्यक शरीर धारण योग्य क्रियाएँ ही सम्पन्न करनी पड़ती हैं। साथ ही जड़ शरीर से सम्बद्ध होने के कारण मन अपने को वृत्ति की गति के साथ चलने का उत्साह भी नहीं जुटा पाता फलतः उससे न्यूनतम आवश्यक कार्य ही सम्पादित कराए जाते हैं।

वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा भी जड़ है, पर चैतन्य है। इनमें आत्मा मध्यस्थ होकर सब पर नियंत्रण करता है। सब की क्रियाओं का निरीक्षण एवम् परीक्षण यहाँ होता है एवम् उनका अनुशासन भी होता है, पर वह अर्थात् आत्मा तटस्थ रहते हुये स्वयम् किसी भी क्रिया में भाग नहीं लेती। वृत्ति, चित्त एवम् बुद्धि जब मन से पूर्णतः उपराम होते हैं, तो प्रत्यावर्त्तन क्रिया आरंभ हो जाती है और वृत्ति-चित्त को चित्त-बुद्धि को तथा बुद्धि आत्मा को समर्पित होती है।।

किसी भी इकाई द्वारा विरोधी दिशाओं में सफलतापूर्वक कार्य सम्पन्न करना असंभव है। मन, चैतन्य इकाई का अभिन्न अंग होने के कारण जब तक शरीर भाव में रहता है, इसे विकसित इकाईयों से ऊर्जा लेनी ही पड़ती है। ऊर्जा के इस आवर्तन से वृत्ति, चित्त और बुद्धि की पूरी ऊर्जा आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हो पाती। चूंकि मन से वृत्ति, वृत्ति से चित्त, चित्त से बुद्धि प्रचुर मात्रा में गतिशील है अतः बुद्धि की बहुत ही थोड़ी ऊर्जा चित्त

को, चित्त की थोड़ी ऊर्जा वृत्ति को तथा वृत्ति की थोड़ी भी ऊर्जा मन को सक्रियता प्रदान किए रहती है। वृत्ति, चित्त और बुद्धि की शेष ऊर्जा आत्मा की ओर समर्पित रहती ही है और यही कारण है कि सामाजिकता के दबाव से, व्यवस्था के दबाव से, अध्ययन, वातावरण तथा संस्कार के दबाव से जब कभी भी वृत्ति के पूर्ण नियंत्रण में मन आ जाता है तो वृत्ति, चित्त और बुद्धि द्रुत गति से आत्मा की ओर उन्मुख होते हैं। बुद्धि के पूर्णतः आत्मा में उपराम होते ही, आत्मा संतृप्त हो जाता है तथा समस्त ऊर्जा के प्रत्यावर्तन और फलतः अन्तर्निहित हो जाने से आत्मा से ऊर्जा का विकिरण होना आरंभ हो जाता है। आत्मा व्यापक सत्ता में समाहित हो ने का अनुभव करता है, यही विश्राम है। सामाजिकता का दबाव, वातावरण का दबाव, व्यवस्था का दबाव तथा अध्ययन और संस्कार का दबाव मन को उपराम करने के लिए अति आवश्यक है। यह श्रम की क्रिया बुद्धि के उपरामहोने तक है, उसके उपरान्त मात्र विश्राम ही विश्राम है।

मन का उपराम होना इस प्रकार अत्यंत दुरुह तथा कठिन-साध्य सिद्ध होता है। चूँकि इसके उपराम होने में सामाजिकता का दबाव, वातावरण का दबाव, व्यवस्था का दबाव और अध्ययन एवम् संस्कार का दबाव सहायक है अतः यह जानकारी आवश्यक है कि सामाजिकता से हमें क्या प्रत्याशा है, क्योंकि अन्य सभी दबावों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संबंध सामाजिकता से है ही। आइए हम सामाजिकता की रूप रेखा क्या है, इसे देखें।

सामाजिकता तीन प्रकार की प्रसिद्ध है—

१. अमानवीयता, २. मानवीयता और ३. अतिमानवीयता।

उपरोक्त में से मानवीयता—पूर्ण सामाजिकता ही मन को उपराम करने में सहायक होती है तथा अतिमानवीयता का विकास इकाई में, वृत्ति से बुद्धि तक की उपरामिता प्राप्त करने तक हो ही जाती है तथा मानवीयता-पूर्ण समाज इसमें प्रोत्साहक होता है।

उपरोक्त मानवीयता-पूर्ण समाज के विकास के लिये अमानवीयता का तथा इससे विकसित अतिमानवीयता,—दोनों का—ज्ञान आवश्यक है।

अमानवीयता के अध्ययन से ह्रास की अन्तिम गति तक दर्शन तथा अतिमानवीयता के अध्ययन से विकास की अन्तिम सीढ़ी तक का दर्शन होता है।

ह्रास की अन्तिम परिणति का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर दूसरा कार्य शेष न रह जाने पर मानवीयता का अध्ययन एवम् उसमें गुरू मूल्यता सिद्ध होने के कारण इस पर आचरण स्वाभाविक होगा ही।

सामाजिकता के मूल में व्यवहार ही है, जिसमें व्यष्टिगत व्यवहार से समष्टिगत व्यवहार तक का दर्शन है। सामाजिकता के अध्ययन में जड़ की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु से लेकर व्यापक सत्ता तक का अध्ययन व्यवहार के माध्यम से ही है।

अभी तक व्यवहार को बहुत ही उपेक्षणीय मान कर विश्राम की अनुभूति के लिये प्रचार, प्रसार एवम् उपदेश हुए हैं, जबकि व्यवहार से ही राक्षसी स्वभाव तथा व्यवहार से ही दिव्यता की उपलब्धि एवम् व्यापकता की अनुभूति के लिये पृष्ठभूमि की तैयारी है।

अत: प्रस्तुत ग्रन्थ—'मानव-व्यवहार-दर्शन' में व्यवहार की महत्ता प्रतिपादित करते हुये विश्राम की अनुभूति कैसे हो, इसका मार्ग दर्शन है। स्पष्ट है मार्ग दर्शन वही करा सकेगा जिसने स्वयं मार्ग देखा हो।

मनेन्द्रगढ़
२९-१०-१९७८।

(नन्द कुमार श्रीवास्तव)
एक साधक

संदेश :

भूमि: स्वर्गताम् यातु,
मनुष्यो यातु देवताम्।
धर्मो सफलताम् यातु,
नित्यम् यातु शुभोदयम्।

व्यापक शून्यावकाश में स्थित अनन्त ब्रह्माण्डों में से एक ब्रह्माण्ड के अंगभूत इस पृथ्वी पर, वर्तमान में पाये जाने वाले मानव अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि उनको ह्रास और विकास का अध्ययन एवम् प्रयोग करने का स्वर्णिम अवसर व साधन प्राप्त है।

अभ्युदय (सर्वतोमुखी विकास) सबको सर्वत्र उत्प्रेरित कर रहा है कि—

"स्वयम् का मूल्यांकन कर लो—गलती अपराध नहीं करोगे, फलत: दु:खी, प्रताड़ित और दरिद्र नहीं होगे।"

स्वयम् का मूल्यांकन करने के लिये स्वयम्-सिद्ध मूलभूत आधार हृदयंगम करना होगा, वह है

१. भूमि एक—राष्ट्र अनेक,

२. मानव की जाति एक-कर्म अनेक,

३. मानव का धर्म एक-मत अनेक,

४. ईश्वर एक—देवता अनेक।

स्व-मूल्यांकन के लिये निम्न बिन्दुओं से अर्थात्-

एक. ● प्रत्येक मनुष्य मानव मात्र को एक इकाई के रूप में जानने और उसके साथ तदनुसार निर्वाह कर सके-ऐसी क्षमता, योग्यता, और पात्रता के विकास के लिए,

दो. ● सह-अस्तित्व, सन्तुलन, समाधान, अभय और सुख की अक्षुण्णता के लिए,

तीन. ● स्वधन, स्वनारी/ स्व पुरुष तथा दया पूर्ण जीवन दृढ़ता पूर्वक जीने में समर्थ होने के लिए,

चार. ● अमानवीयता से मानवीयता और मानवीयता से अतिमानवीयता की ओर गति के लिए, सुगम मार्ग पाने के लिए,

पांच. ● सामाजिक दायित्वों का सहजता पूर्वक निर्वाह करने के लिए,

छः. ● आश्रित मानवीय संस्कृत एवम् सभ्यता के ज्ञान के लिए,

सात. ● राष्ट्र में संस्कृति एवम् सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक विधि एवम् व्यवस्था के नीति पक्ष की जानकारी के लिए,

इनके आधार भूत तथ्यों का अध्ययन आवश्यक है।

उपरोक्त अध्ययन को सुलभ करने हेतु यह ग्रन्थ "मानव-व्यवहार-दर्शन" के नाम से सम्पूर्ण मानव समाज को अर्पित करते हुए, मैं, परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ।

पूर्ण विश्वास है कि सांकेतिक तथ्यों का अध्ययन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ आपके व्यवहार एवम् आचरण में मानवीयता-पूर्ण दृष्टि, गुण व विषयों को प्रस्थापित करने की प्रेरणा देगा एवम् आपके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होगा जिससे—

भूमि ही स्वर्ग हो जाएगी,
मनुष्य ही देवता हो जाएगें,
धर्म सफल हो जाएगा, और
नित्य मंगल ही होगा,

ए॰ नागराज शर्मा

पुस्तक में प्रयुक्त संकेत—

● अनुभूतियाँ

∷ परिभाषाएँ।

★ विश्लेषण अनुभूतियों अथवा परिभाषाओं का।

× सम्बन्ध एवम् स्पष्टीकरण।

##卐 एक

● मैं नित्य, सत्य, शुद्ध एवम् बुद्ध परमात्मा का स्मरण करते हुए 'मानव व्यवहार दर्शन' का विश्लेषण करता हूँ।

∷ नित्य—जो तीनों कालों में एक सा विद्यमान हो,

∷ सत्य—जो तीनों कालों में एक सा भासमान हो,

∷ शुद्ध—जो तीनों कालों में एक सा सुख प्रद हो,

∷ बुद्ध—जो तीनों कालों में एक सा बोधगम्य हो,

× उक्त सभी लक्षणों से युक्त सत्ता को परमात्मा की संज्ञा है। आगे परमात्मा को ही नियम, नियन्त्रण, पूर्ण, ईश्वर, लोकेश, व्यापक, चेतना, निरपेक्ष शक्ति तथा ज्ञान के नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

∷ मानव—मनाकार को साकार करने वाले तथा मनः स्वस्थता के आशावादी की मानव संज्ञा है।

∷ व्यवहार—एक से अधिक एकत्र होने के लिये अथवा होने में जो श्रम है, उसे व्यवहार संज्ञा है।

∷ दर्शन—दृष्टि से प्राप्त जानकारी की दर्शन संज्ञा है।

∷ व्यवहार को देखने, समझने और पहचानने की क्रिया को दृष्टि कहते हैं।

∷ विश्लेषण—परिभाषा की विश्लेषण संज्ञा है।

● व्यापक एक और इकाईयाँ अनन्त है।

∷ व्यापक—जिसका किसी भी देश अथवा काल में अभाव न हो उसकी व्यापक संज्ञा है।

∷ इकाई—छः ओर से सीमित पदार्थ पिण्ड की इकाई संज्ञा है।

∷ अनन्त—संख्या में अग्राह्य क्रिया की अनन्त संज्ञा है।

● व्यापक सत्ता अथवा परमात्मा व्यवहार काल में नियम के रूप में, विचार काल में समाधान के रूप में, अनुभव काल में आनन्द के रूप में और आचरण काल में न्याय के रूप में प्राप्त है।

∷ काल—क्रिया की अवधि की काल संज्ञा है।

∷ नियम—क्रिया के नियन्त्रण की नियम संज्ञा है।

∷ समाधान—कैसे और क्यों की पूर्ति ही समाधान है।

∷ आनन्द—सत्यता की अनुभूति की आनन्द संज्ञा है।

∷ न्याय—मानवीयता पूर्ण व्यवहार की न्याय संज्ञा है।

★ मानवीयता पूर्ण व्यवहार—

धीरता, वीरता एवम् उदारता पूर्ण स्वभाव, न्याय, धर्म एवम् सत्यतापूर्ण दृष्टि और वित्तेषण, पुत्रेषण एवम् लोकेषणा पूर्ण विषय से युक्त व्यवहार की मानवीयता पूर्ण व्यवहार संज्ञा है।

× व्यापक सत्ता को जानने और पहचानने तथा अनुभव करने का प्रयास, प्रयोग व अध्ययन मानव करता रहा है और करता रहेगा।

∷ ज्ञान को अनुभव काल में आनन्द, व्यवहार काल में नियम, प्रतिक्रिया काल में नियंत्रण, अपरिणामिता के कारण पूर्ण, सर्वत्र एक सा अनुभव में आने के कारण ईश्वर, ज्ञान से समस्त क्रियाएँ संरक्षित और नियन्त्रित होने के कारण लोकेश, सर्वत्र एक सा विद्यमान होने के कारण

व्यापक, वस्तु चैतन्य होते समय में चेतना, आत्मा से भी सूक्ष्मतम होने के कारण परमात्मा, प्रत्येक वस्तु इसके सम्पर्क से ही सचेष्ट होने के कारण इसे निरपेक्ष शक्ति की भी संज्ञा दी जाती है।

● ज्ञान ही शून्य और शून्य ही ज्ञान है।

★ क्रिया हीनता की स्थिति की शून्य संज्ञा है तथा ज्ञान स्वयम् क्रिया न करते हुए अथवा क्रिया न होते हुए भी समस्त क्रियाओं का आधार अथवा प्रेरणा श्रोत है। अतः ज्ञान और शून्य दोनों एक ही सिद्ध होते हैं तथा इसमें अवस्थित होने से ही क्रिया के लिये प्रेरणा प्राप्त है। ज्ञान अथवा शून्य से रिक्त और मुक्त इकाई नहीं है।

卐 दो

● मैं कृतज्ञतापूर्वक उन सुपथ प्रदर्शकों की वन्दना करता हूँ, जिनसे यथार्थता के श्रोत आज भी जीवित है।

⁘ कृतज्ञता—जिस किसी से भी उन्नति की प्राप्ति में सफलता मिली हो, उसकी स्वीकृति को कृतज्ञता की संज्ञा है।

⁘ सुपथ—समाधान की निश्चित दिशा को सुपथ अथवा उन्नति की संज्ञा है।

⁘ यथार्थता के श्रोत—अकृत्रिमता पूर्वक अथवा आडम्बर हीन ढंग से की गई अभिव्यक्ति अथवा प्रयास को यथार्थता के श्रोत की संज्ञा है।

⁘ वन्दना—गौरवता को व्यक्त करने हेतु प्रयुक्त चेष्टा की वन्दना संज्ञा है।

⁘ गौरवता—निर्विरोध पूर्वक अंगीकार किए गये अनुकरण प्रयास एवम् प्रवृत्ति की गौरवता संज्ञा है।

● कृतज्ञता के बिना गौरवता, गौरवता के बिना सरलता, सरलता के बिना सहजता, सहजता के बिना मानवीयता, मानवीयता के बिना सह अस्तित्व तथा सह-अस्तित्व के बिना कृतज्ञता सिद्ध नहीं होती है।

⁘ सरलता—अभिमान से रहित विचार व व्यवहार पद्धति की सरलता की संज्ञा है।

⁘ सहजता—आडम्बर तथा रहस्यता से मुक्त व्यवहार व रीति की सहजता की संज्ञा है।

⁘ सह-अस्तित्व—परस्परता में निर्विरोध की सह-अस्तित्व संज्ञा है।

● मानव का समूचा व्यवहार कृतज्ञता तथा कृतज्ञता के आधार पर ही निर्भर करता है।

⁘ कृतघ्नता—कृतज्ञता के विपरीत आचरण की कृतघ्नता संज्ञा है।

———

卐 तीन

● मानव ने सृष्टि दर्शन करने की कामना एवम् प्रयास किया है।

⁘ सृष्टि—पदार्थ के संगठन, विघटन, पोषण एवम् शोषण क्रिया की सृष्टि संज्ञा है।

● सृजन, विसर्जन, शोषण एवम् पोषण के भेद से सृष्टि दर्शन है।

⁘ सृजन :— इकाई + इकाई

⁘ विसर्जन :— इकाई — इकाई

⁘ पोषण :— इकाई + अनुकूल इकाई

⁘ शोषण :— इकाई — अनुकूल इकाई

⁘ पद भेद से अर्थ भेद को स्पष्ट करने वाले वस्तु को पदार्थ कहते हैं।

● निरपेक्ष शक्ति व पदार्थ के योग के फलस्वरूप ही सृष्टि कार्य है।

⁘ निरपेक्ष शक्ति—जिस शक्ति का अस्तित्व हो पर जिसके उत्पत्ति का कारण सिद्ध न हो उसे निरपेक्ष शक्ति की संज्ञा है।

● निरपेक्ष शक्ति शून्य की स्थिति में सर्वत्र व्यापक है।

⁘ शून्य—जो स्वयम् में क्रिया नहीं है पर सभी क्रियाएँ जिससे आवेष्टित एवम् आश्लिष्ट है, उसकी शून्य संज्ञा है।

● सापेक्ष एवम् निरपेक्ष भेद से शक्तियाँ हैं।

⁘ सापेक्ष शक्ति—दूसरे की सहायता के बिना जिस शक्ति की उत्पत्ति न हो उसकी सापेक्ष शक्ति संज्ञा है।

● शक्ति के बिना पदार्थ में चेष्टा और पदार्थ के बिना शक्ति का परिचय नहीं है।

⁘ चेष्टा—श्रम, गति एवम् परिणाम की सम्मिलित क्रिया की चेष्टा संज्ञा है।

★ सम्पूर्ण पदार्थ अपनी परमाण्विक स्थिति में सचेष्ट हैं। इसीलिए, ज्ञात होता है कि उन्हें शक्ति प्राप्त है। जिस शक्ति से समस्त पदार्थ अपने परमाण्विक स्थिति में सचेष्ट हैं, वह ही निरपेक्ष शक्ति है।

× उक्त रीति से पदार्थ एवम् निरपेक्ष शक्ति का अस्तित्व तीनों काल में सिद्ध होता है।

× वर्तमान तक मानव को प्राप्त जानकारी के आधार पर, हर परमाणु को प्राप्त शक्ति के उत्पत्ति का क्रम ज्ञात नहीं है। इसीलिए उस शक्ति के अस्तित्व को निरपेक्ष स्वीकारा है, क्योंकि इसे (निरपेक्ष शक्ति) हम प्रत्येक परमाणु के क्रिया के मूल में पाते हैं। यह निरपेक्ष-शक्ति सर्वत्र एक सी रहने के कारण इसे 'साम्य-शक्ति' की भी संज्ञा है। शून्य को साम्यतः पाया जाता है। शून्य से रिक्त व मुक्त क्रिया सिद्ध नहीं होती है। शून्य ही व्यापक है। शून्य ही निरपेक्ष शक्ति है।

× निरपेक्ष शक्ति एवम् पदार्थ में इतना अन्तर है कि निरपेक्ष-शक्ति हर काल, स्थान व वस्तु में प्राप्त है। निरपेक्ष शक्ति न हो ऐसा कोई स्थान अभी तक प्राप्त या सिद्ध नहीं है, परन्तु पदार्थ न हो ऐसा स्थान है पर ऐसा काल सिद्ध नहीं है।

⁘ स्थान—पदार्थ का विस्तार बराबर स्थान।

★ पदार्थ के संगठन तथा अवस्था भेद से ही पदार्थ की मात्रा एवम् रूप की अवधियाँ है।

× समस्त पदार्थ ठोस, तरल अथवा वायु के रूप में उपलब्ध है। इन अवस्थाओं में पदार्थ तात्विक, यौगिक अथवा मिश्रण के रूप में प्राप्त है।

⁘ तात्विक—सजातीय परमाण्विक समूह के गठन की तात्विक संज्ञा है।

⁘ यौगिक—विजातीय परमाण्विक अथवा आण्विक समूह का ऐसा गठन जिसे रसायनिक तथा भौतिक क्रियाओं द्वारा मूल तात्विक इकाईयों में बदलने हेतु प्रक्रिया अथवा नियम की जानकारी न हो।

⁘ मिश्रण—विजातीय परमाण्विक अथवा आण्विक समूह का ऐसा गठन जिसे रसायनिक अथवा भौतिक क्रियाओं द्वारा अपने मूल तात्विक इकाईयों में प्राप्त किया जा सके।

× यौगिक में रसायनिक तथा भौतिक दोनों परिणाम होते हैं, जब कि मिश्रण में केवल भौतिक परिणाम होते हैं।

× परमाणु के माध्यांश के जो आश्रित कण है, उसकी संख्या भेद से परमाणु की जाति एवम् अवस्था का निर्णय होता है।

★ पदार्थ—राशि के परस्पर संघर्ष से प्राप्त वेगमय पदार्थ-व्यूह की वायु संज्ञा है जिनके योग से द्रव एवम् ताप का भी प्रसव है।

● योग—मिलन की योग संज्ञा हैं।

योग के दो भेद हैं।

१. ऐक्य और २. सहवास।

⁘ ऐक्य—जिस योग के अनन्तर विलगीकरण न हो उस मिलन की ऐक्य संज्ञा है।

⁘ सहवास—जिस योग के अनन्तर विलगीकरण सम्भव हो उस मिलन की सहवास संज्ञा है।

★ सहवास के अनन्तर उन्नति के ओर प्राप्त सम्वेगों को 'प्रेरणा' की संज्ञा है तथा इसके विपरीत अवनति की ओर प्राप्त सम्वेगों को प्रतिक्रान्ति की संज्ञा है। धारणा के प्रतिकूल चेष्टा को अथवा समस्या की ओर प्राप्त विवशता को भी प्रतिक्रान्ति की संज्ञा दी जाती है।

⁘ उन्नति—अधिक मूल्यन की ओर अथवा समाधान की ओर—प्रगति या उन्नति संज्ञा है।

⁘ सम्वेग—संयोग से प्राप्त वेग की सम्वेग संज्ञा है।

⁘ धारणा—जिससे जिसका वियोग सम्भव न हो, वह उसकी धारणा है।

⁘ समस्या—किसी भी घटना अथवा क्रिया के नियम की जानकारी न होना ही समस्या है अथवा कैसे और क्यों की अपूर्ति ही समस्या है।

⁘ समाधान—किसी भी घटना अथवा क्रिया के नियम की जानकारी होना ही समाधान है अथवा कैसे और क्यों की पूर्ति ही समाधान है।

⁘ अधिक मूल्यन—दीर्घ कालीन परिणाम अथवा अपरिणाम की अधिक मूल्यन संज्ञा है।

● सहवास में ही प्रेरणा एवम् प्रतिक्रान्ति का प्रसव और अनुभव है।

● प्रेरणावादी सहवास से उभय सुकृतियाँ तथा प्रतिक्रान्तिवादी सहवास में उभय विकृतियाँ हैं।

❖ उभय सुकृतियाँ—अधिमूल्यन अथवा दीर्घ परिणाम या अपरिणाम।

❖ उभय विकृतियाँ—अवमूल्यन अथवा द्रुत परिणाम या अति द्रुत परिणाम।

● सहवास ही सृष्टि का मूल कारण है।

× संसार में अथवा अनन्त संसार में ऐसी कोई इकाई नहीं है जो उत्थान या पतन की ओर गतित न हो क्योंकि गति रहित कोई इकाई नहीं है। अतः अनन्त के लिये मात्र दो ही गति है।

× पदार्थ राशि के संघर्ष एवम् मिश्रण भेद से समस्त रस एवम् उपरस का प्रसव है।

● पदार्थ राशि का वर्गीकरण चार जातियों में है :

१. मृत्, २. पाषाण, ३. मणि और ४. धातु।

● मृत् अथवा मिट्टी उर्वरा और अनुर्वरा भेद से है।

❖ उर्वरा—बीज को पाकर अनेक बीज को तैयार करने वाली क्षमता से पूर्ण मिट्टी की उर्वरा संज्ञा है तथा इससे विपरीत स्वभाव वाली मिट्टी की 'अनुर्वरा' संज्ञा है।

● पाषाण का वर्गीकरण कठोर एवम् अकठोर भेद से है।

❖ कठोर—अधिक भार को सहने वाले पाषाण की कठोर तथा कम भार सहने वाले की अकठोर संज्ञा है।

● मणि का वर्गीकरण किरण स्रावी एवम् किरण ग्राही भेद से है।

❖ किरण—ताप की बिम्ब एवम् अनुबिम्ब क्रिया की किरण संज्ञा है। इकाई की बहिर्निहित अग्नि की ताप संज्ञा है।

❖ किरण स्रावी—मणि में अन्तर्निहित अग्नि के प्रभाव से प्रसारण क्रिया करने वाले मणि की किरणस्रावी तथा इसके विपरीत की किरण ग्राही संज्ञा है।

★ पारदर्शक एवम् अपारदर्शक भेद से विकिरण और किरण क्रिया में रत है।

❖ विकिरण—किसी इकाई में अन्तर्निहित अग्नि के प्रभाव से प्राप्त प्रसारण क्रिया की विकिरण संज्ञा है।

❖ किरण—प्रकाश के प्रतिबिम्ब एवम् अनुबिम्ब क्रिया को रश्मि या किरण की संज्ञा है।

❖ प्रकाश—ईकाई की बहिर्निहित अग्नि को ताप, उसके प्रसारण क्रिया को प्रकाश की संज्ञा है।

★ विकिरण एवम् किरण माध्यम भेद से शोषण या पोषण क्रिया में रत है।

★ पदार्थ राशि के संगठित पिण्ड को, ग्रह की संज्ञा है जिसके सभी ओर आकाश है।

× प्रत्येक ग्रह आकाश में शून्याकर्षण की स्थिति में है। ऐसी हर इकाई अर्थात ग्रह आकाश में अपनी गति के अनुसार स्थित है। ऐसी हर इकाई धनाकर्षण की स्थिति में किसी की ओर आकर्षित तथा ऋण—आकर्षण की स्थिति में किसी को आकर्षित करती है तथा शून्याकर्षण की स्थिति में स्वतन्त्र है।

● भार, आकर्षण से; आकर्षण, परस्परता से; परस्परता लघुता एवम् गुरुता से; लघुत्व एवम् गुरुत्व सापेक्ष शक्तियों से; सापेक्ष शक्ति, क्रिया से; क्रिया, पदार्थ से और पदार्थ का ह्रास एवम् विकास सापेक्ष शक्तियों के सदुपयोग एवम् दुरुपयोग से सापेक्षित है।

● समस्त पदार्थ निरपेक्ष शक्ति में आश्रित हैं तथा सम्पूर्ण सृष्टि की स्थिति तथा लय निरपेक्ष शक्ति में है।

● प्रत्येक चेष्टा से सापेक्ष शक्ति का प्रसव है।

● मूल चेष्टा के लिए निरपेक्ष शक्ति प्राप्त है ही।

:: मूल चेष्टा—पदार्थ के परमाण्विक स्थिति में वातावरण के दबाव से मुक्त चेष्टा की मूल-चेष्टा संज्ञा है।

× किसी भी भूमि पर पूर्ण सृष्टि तभी सम्भव है, जब वह अपने में, आवश्यक सम्पूर्ण रस, उपरस एवम् वायु से समृद्ध हो जाय। इस प्रकार से इस असीम अवकाश में अनन्त भूमि अपनी प्रगति के अनुसार पूर्ण-विकसित, अर्ध-विकसित, अल्प विकसित एवम् अविकसित अवस्था में है।

× अविकसित सृष्टि को पदार्थावस्था की सृष्टि भी कहते हैं। समस्त मृत, पाषाण, मणि एवम् धातु की गणना अविकसित सृष्टि में है। अल्प-विकसित सृष्टि को प्राणावस्था की सृष्टि भी कहते हैं। समस्त वनस्पति प्राणावस्था की सृष्टि में सम्मिलित है। अर्ध-विकसित सृष्टि को जीवावस्था की सृष्टि भी कहते हैं। मनुष्येत्तर समस्त अण्डज और पिण्डज सृष्टि की गणना जीवावस्था में है। पूर्ण-विकसित सृष्टि को ज्ञानावस्था की सृष्टि भी कहते हैं। सृष्टि की इस कोटि में केवल मनुष्य ही गण्य है। यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि अल्प-विकसित सृष्टि में अविकसित सृष्टि, अर्ध-विकसित सृष्टि में, अल्प-विकसित और अविकसित तथा पूर्ण-विकसित सृष्टि में अर्ध विकसित, अल्प-विकसित तथा अविकसित सृष्टि समाहित है ही।

× फलतः उच्च कोटि के सृष्टि में निम्न कोटि के सृष्टि के गुण, स्वभाव और धर्म समाहित रहते ही हैं।

:: गुण—सापेक्ष शक्तियों की गुण संज्ञा है अथवा एक से अधिक एकत्र होने पर जो प्रभाव उत्पन्न होता है उसे गुण की संज्ञा है।

:: स्वभाव—गुणों की उपयोगिता की स्वभाव संज्ञा है अथवा मौलिकता की ही स्वभाव संज्ञा है।

:: धर्म—धारणा ही धर्म है।

★ सृष्टि का उपरोक्त वर्गीकरण कोष गठन भेद से है।

:: कोष—आशय तथा प्रयोजन सहित निश्चित क्रिया करने वाले अंग विशेष को कोष की संज्ञा है।

★ अनन्त रचनाएँ पांच कोषों के गठन के भेद के अन्तर्गत परिलक्षित होती हैं। इन पाँच कोषों को क्रमशः अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, आनन्दमय कोष और विज्ञान मय कोष की संज्ञा है।

:: अन्नमय कोष—ग्रहण और विसर्जन करने वाले अंग को अन्नमय कोष की संज्ञा है।

:: प्राणमय कोष—प्रेरणा को स्वीकार अथवा अस्वीकार करने वाले अंग की प्राणमय कोष संज्ञा है।

:: मनोमय कोष—चयन करने वाले अथवा चुनाव करने वाले अंग की मनोमय कोष संज्ञा है।

:: आनन्दमय कोष—सुख अथवा दुःख को ग्रहण वाले अंग की आनन्दमय कोष संज्ञा है

:: विज्ञानमय कोष—विशेष ज्ञान को ग्रहण करने वाले अंग की विज्ञानमय कोष की संज्ञा है।

● चारों अवस्थाओं की सृष्टि की अपनी विशेषताएँ हैं यह विशिष्टताएँ रूप, गुण, स्वभाव और धर्म से सम्बन्धित है।

★ रूप—चारों अवस्थाओं की सृष्टि में रूप का निर्धारण आकार, आयतन और घनता के भेद से है।

★ गुण—चारों अवस्थाओं में गुण सम, विषम अथवा मध्यस्थ के भेद से है।

⁙ सम—सृजन क्रिया में सहायक गुण की सम संज्ञा है।

⁙ विषम—विसर्जन क्रिया में सहायक गुण की विषम संज्ञा है।

⁙ मध्यस्थ—विभव क्रिया में सहायक गुण की मध्यस्थ संज्ञा है।

× यह तीनों अर्थात् सृजन, विसर्जन तथा विभव की क्रिया ऊर्जामय है।

★ स्वभाव—पदार्थावस्था में संगठन अथवा विघटन या संगठन-विघटन क्रिया की निरन्तरता स्वभाव है।

★ प्राणावस्था में सारक अथवा मारक या सारक-मारक क्रिया की निरन्तरता स्वभाव है।

★ जीवावस्था में हीनता, दीनता एवम् क्रूरता स्वभाव है। प्रत्येक जीव इन तीनों में से किसी भी एक में पाया ही जाता है।

★ ज्ञानावस्था में धीरता, वीरता और उदारता स्वभाव है।

● धर्म—पदार्थावस्था में अस्तित्व धर्म है।

● प्राणावस्था में पुष्टि धर्म है।

● जीवावस्था में जीने की आशा धर्म है।

● ज्ञानावस्था में सुख ही धर्म है।

× यह ऊपर स्पष्ट किया ही जा चुका है कि उच्च

कोटि की सृष्टि में निम्न कोटि की सृष्टि समाहित रहती है। उसी अनुसार पदार्थावस्था के रूप, गुण, स्वभाव धर्म—प्राणावस्था में, प्राणावस्था के जीवावस्था में, जीवावस्था के ज्ञानावस्था में सन्निहित हैं ही।

● कोष गठन भेद से सृष्टि में अवस्था-भेद पाया जाता है।

× पदार्थावस्था की सृष्टि में—अन्नमय कोष और प्राणमय कोष—इन, दो कोषों का गठन है। इन दो कोषों की क्रियाएँ समस्त पदार्थों में पाई जाती हैं। प्रत्येक परमाणु सचेष्ट है, इसलिए उसमें प्रेरणा पाने वाला अंग सिद्ध है। इसके साथ ही परमाणु ह्रास एवम् विकास से मुक्त नहीं है जो कि ग्रहण विसर्जन का ही प्रतिफल है। अतः पदार्थ में अन्नमय कोष भी सिद्ध हुआ। अन्नमय कोष की क्रियाशीलता भी चेष्टा का ही फल है अर्थात् प्राणमय कोष के चेष्टित होने का फल ही है कि अन्नमय कोष की क्रिया भी सम्पादित होती है। साथ ही प्राणमय कोष की सक्षमता बनाये रखने के लिए अन्नमय कोष द्वारा ग्रहण एवम् विसर्जन भी आवश्यक है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अन्नमय कोष और प्राणमय कोष का अविनाभाव सम्बन्ध है।

★ प्राणावस्था की सृष्टि में तीन कोषों का गठन है, यह है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष और मनोमय कोष। वनस्पतियों में पदार्थावस्था की सृष्टि की अपेक्षा चयनवादी क्रिया विशेष है, जो मनोमय-कोष की क्रिया है। यह इससे स्पष्ट होता है कि एक ही भूमि पर स्थित विभिन्न वनस्पतियाँ अपनी अपनी आवश्यकतानुसार आवश्यकीय तत्वों एवम् रसों को ग्रहण करते हुए पुष्ट होती देखी जाती हैं।

★ जीवावस्था में चार कोषों का गठन है। यह है—

अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष और आनन्दमय कोष।

★ आनन्दमय कोष का विकास ही चैतन्यता का कारण है तथा इसी चैतन्यता के कारण जीव सुख और दुःख की अनुभूति करते हैं। यह क्रिया विशेष ही इस कोटि की सृष्टि को प्राणावस्था तथा पदार्थावस्था की सृष्टि से भिन्नता एवं विशेषता प्रदान करती है। सुख और दुःख की अनुभूति के कारण ही जीवावस्था की इकाई को विषयों (आहार, निद्रा, भय और मैथुन) का सेवन प्रियाप्रिय, हिताहित और लाभालाभ की दृष्टि से करने का अधिकार है।

⁘ प्रिय—ऐन्द्रिय सुख सापेक्ष क्रिया को प्रिय की संज्ञा है।

⁘ हित—शरीर स्वास्थ्य वर्धन एवम् पोषण क्रिया की हित संज्ञा है।

⁘ लाभ—श्रम से अधिक द्रव्य पाने की क्रिया की लाभ संज्ञा है अथवा लघु मूल्य के बदले गुरु मूल्य आदाय की लाभ संज्ञा है।

★ ज्ञानावस्था में पाँच कोषों का गठन है, यह है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, आनन्दमय कोष और विज्ञानमय कोष।

★ विज्ञानमय कोष का विकास ही विवेक और विज्ञान विशेष ज्ञान का कारण है, विवेक और विज्ञान द्वारा ही दुःख के कारण और निवारण की जानकारी होती है। दुःख के निवारण से ही सुख, शान्ति, सन्तोष और आनन्द की अनुभूति सम्भव है।

× समस्त पदार्थ संगठन, विघटन एवं संगठन-विघटन क्रिया में अविरत गति से व्यस्त रहते हुये भौतिक एवं रासायनिक परिणाम को प्राप्त होते हैं।

★ प्राणावस्था की समस्त इकाईयाँ, पदार्थावस्था की सभी क्रियाओं सहित सप्राण, निष्प्राण, आरोह अथवा अवरोह क्रिया में अवस्थित होकर सारक, मारक अथवा सारक-मारक स्वभाव सहित क्रिया में अभिव्यक्त है।

⁘ सारक—प्राण-पोषक वनस्पति की सारक संज्ञा है।

⁘ मारक—प्राण-शोषक वनस्पति की मारक संज्ञा है।

★ जीवावस्था की समस्त इकाईयाँ पदार्थावस्था तथा प्राणावस्था की सभी क्रियाओं सहित उद्भव, विभव एवम् प्रलय सहित आहार, निद्रा, भय और मैथुन युक्त विषयों में आसक्त होकर विहार करते हुए हीनता, दीनता एवम् क्रूरता पूर्ण व्यवहार द्वारा क्रिया में व्यस्त है।

⁘ हीनता - विश्वासघात ही हीनता है।

⁘ विश्वासघात—जिससे जिस क्रिया की अपेक्षा है, उसके द्वारा तद्नुसार आचरण न किया जाना ही विश्वासघात है।

★ विश्वासघात चार प्रकार से किया जाता है—छल, कपट, दम्भ और पाखण्ड के भेद से विश्वासघात है।

⁘ छल — विश्वासघात के अनन्तर भी उसका आभास न हो—ऐसे विश्वासघात की छल संज्ञा है।

⁘ कपट—विश्वासघात के अनन्तर उसके प्रकट या स्पष्ट हो जाने की स्थिति में, विश्वासघात की कपट संज्ञा है।

★ दम्भ —आश्वासन देने के पश्चात् भी किए गये विश्वासघात की दम्भ संज्ञा है।

⁘ पाखण्ड —दिखावापूर्वक किए गए विश्वासघात की पाखण्ड संज्ञा है।

:: दीनता—अपने दुख को दूसरों से दूर कराने हेतु जो आश्रय प्रवृत्ति है, उसे दीनता की संज्ञा है।

★ ऐसी दीनता अभाव जन्य या अक्षमताजन्य दो प्रकार की होती है।

★ अभाव—उत्पादन से अधिक उपभोग एवम् उपयोग की इच्छा ही अभाव है। आलस्य, प्रमाद, अज्ञान, अप्राप्ति, प्राकृतिक प्रकोप तथा सामाजिक असहयोग अभाव के कारण हैं।

★ अक्षमता—इच्छानुसार बौद्धिक एवम् भौतिक क्रिया का सम्पादन न कर पाना ही अक्षमता है। अक्षमता का कारण अविकास और रोग है।

:: क्रूरता—स्व-अस्तित्व को बनाए रखने के लिये बलपूर्वक दूसरे के अस्तित्व को मिटाने में जो बौद्धिक प्रवृत्ति है, उसकी क्रूरता संज्ञा है।

● अपराध एवम् प्रतिकार क्रूरता के दो भेद हैं।

★ अपराधात्मक क्रूरता हिंसा के रूप में अभिव्यक्त है तथा प्रतिकारात्मक क्रूरता प्रति हिंसा के रूप में व्यक्त है।

● ज्ञानावस्था की इकाईयों को, उपरिवर्णित तीनों अवस्थाओं की क्रिया, स्वभाव, विषय तथा दृष्टि सहित वित्तेषणा, पुत्रेषणा एवम् लोकेषणा से युक्त व्यवहार करते हुए धीरता, वीरता एवम् उदारता पूर्ण आचरण के द्वारा विवेक एवम् विज्ञान का अध्ययन और प्रयोग का अवसर प्राप्त है जिसकी परिणति ही मानवीय या अमानवीय दृष्टि है।

:: धीरता—न्याय के प्रति निष्ठा एवम् दृढ़ता की धीरता संज्ञा है।

:: वीरता—दूसरों को न्याय उपलब्ध कराने में अपने बौद्धिक एवम् भौतिक शक्तियों की नियोजन करने की प्रवृत्ति की वीरता संज्ञा है।

:: उदारता—अपनी सुख सुविधाओं को दूसरों में सदुपयोगिता-पूर्वक नियोजित करने की जो प्रवृत्ति है—उसकी उदारता संज्ञा है।

× विवेक एवम् विज्ञान के अध्ययन एवम् प्रयोग से ही मनुष्य भ्रान्त, निर्भ्रान्त तथा भ्रान्ताभ्रान्त स्थिति में अवस्थित है।

● सृष्टि में क्रिया अनन्त है और एक ही व्यापक सत्ता से समस्त सृष्टि प्रेरित है।

★ प्रेरित होने के फलस्वरूप ही समस्त पदार्थ श्रम में रत है। श्रम के बिना प्रगति, ह्रास एवम् विकास सिद्ध नहीं होता। इसीलिए—

● पदार्थावस्था + श्रम = प्राणावस्था।
● प्राणावस्था + श्रम = जीवावस्था।
● जीवावस्था + श्रम = ज्ञानावस्था।
● ज्ञानावस्था + श्रम = विश्राम।

★ श्रम के क्षोभ के बराबर ही विश्राम की तृषा है क्योंकि समस्त श्रम विश्राम के लिए ही है।

× ऊपर सृष्टि की जो चार अवस्थाएँ बताई गई हैं उसमें यह अवस्था भेद कोषों के गठन के आधार पर बताई गई है। यहाँ मूलतः यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रत्येक परमाणु में पाँचों कोष रहते ही हैं। यहाँ गठन से तात्पर्य है, सम्बन्धित कोषों का सापेक्षता में अन्य कोषों से अधिक सक्रिय पाना। चूँकि पदार्थावस्था में भी दो कोष सक्रिय रहते ही हैं और पदार्थ का रूप, गुण, स्वभाव व धर्म इन्हीं से निर्णीत होता है। अतः ऐसा कहते हैं कि पदार्थावस्था में दो कोषों का गठन है। श्रम के फलस्वरूप ही अन्य कोष क्रमशः उर्जा को प्राप्त कर सक्रिय होते हैं और यहीं से विकास की प्रक्रिया आरम्भ होती है।

卐 चार

● विश्राम के लिए ही इस पृथ्वी पर मानव अपने महत्व को जानने व पहचानने के प्रयास एवम् प्रयोग में व्यस्त है।

● एक से अधिक मनुष्य एकत्र होने पर समाज की संज्ञा है।

★ अकेले में मनुष्य के जीवन में कोई कार्यक्रम, व्यवहार एवम् उत्पादन सिद्ध नहीं होता है। इस पृथ्वी पर मनुष्य अधिकतम विकसित इकाई है। इससे विकसित इकाई इस पृथ्वी पर परिलक्षित नहीं होता। मनुष्य इसीलिए विकसित इकाई सिद्ध हुआ है, क्योंकि—

१. वह मनुष्येतर सृष्टि के उपयोग, उपभोग, शोषण एवम् पोषण में सक्षम है।

२. मनुष्य में मनुष्येतर तीनों सृष्टि में पाए जाने वाले गुण स्वभाव एवम् धर्म को पाया जाता है।

३. मनुष्येतर सृष्टि में न पाये जाने वाले स्वभाव, व्यवहार एवम् अनुभूति को मनुष्य में पाया जाता है।

● सामाजिकता से आवश्यकता, आवश्यकता से प्रयोग एवम् व्यवसाय, प्रयोग एवम् व्यवसाय से अर्थोपार्जन, अर्थोपार्जन से उपयोग तथा उपभोग, उपयोग तथा उपभोग से व्यवहारिकता, व्यवहारिकता से मानवीयता तथा मानवीयता से सामाजिकता है।

:: सामाजिकता—सम्पर्क एवम् सम्बन्ध के निर्वाह की सामाजिकता संज्ञा है।

:: आवश्यकता—निर्वाह के लिए समुचित साधनों के प्रति तीव्र इच्छा की आवश्यकता संज्ञा है।

:: समुचित साधन—मनुष्य के परस्परता, प्रयोग एवम् व्यवसाय को संतुलित, समृद्ध एवम् विकास पूर्ण बनाने के लिए प्रयुक्त आवश्यकीय साधनों की समुचित साधन संज्ञा है।

:: प्रयोग—मनुष्य की आवश्यकता के रूप में प्राकृतिक ऐश्वर्य को परिवर्तित करने हेतु किए गए प्रथम प्रयास की प्रयोग संज्ञा है।

:: व्यवसाय—प्रयोग को सामान्यीकृत करने हेतु विकसित क्रिया पद्धति में श्रम नियोजन प्रक्रिया की व्यवसाय संज्ञा है जिसमें बहुतायत उत्पादन की अथवा निर्माण की कामना सन्निहित रहती ही है।

:: अर्थोपार्जन—प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन से कला एवम् उपयोगिता की सिद्ध मात्रा को अर्थ की संज्ञा है जिसके आदान से प्रदान तथा प्रदान से आदान का होना आवश्यक है। ऐसे अर्थ पर स्वतः के आरोप और एकत्रीकरण क्रिया की उपार्जन संज्ञा है। अर्थोपार्जन की यह क्रिया-परक परिभाषा है। उपार्जन शब्द का अर्थ ही है उपाय द्वारा किया गया अर्जन।

:: उपयोग—उत्पादन के लिए प्रयुक्त अर्थ की उपयोग संज्ञा है।

:: उपभोग—उपभोग दो भेद से होता है—
सामान्य आकांक्षा से अथवा महत्वाकांक्षा से।

:: सामान्य आकांक्षा से उपभोग—आहार, आवास एवम् अलंकार में प्रयुक्त अर्थ को सामान्य आकांक्षा की पूर्ति हेतु उपभोग की संज्ञा है।

:: महत्वाकांक्षा से उपभोग—दूर गमन, दूर दर्शन तथा दूर श्रवण से लिए प्रयुक्त अर्थ की महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु उपभोग की संज्ञा है

❖ व्यावहारिकता—अर्थ का आदान एवम् प्रदान ही व्यावहारिकता है।

● सामाजिकता का अध्ययन मानव के सामाजिक स्वभाव, विषय एवम् दृष्टि के आधार पर ही है, जिसके संरक्षण हेतु सामाजिक व्यवस्था है।

● उपरिवर्णित आधार पर अध्ययन करने पर मानव समाज में कुल तीन प्रकार की सामाजिकता ही देखने में आती है—

१. अमानवीयता, २. मानवीयता और ३. अतिमानवीयता।

● अमानवीय स्वभाव, विषय एवम् दृष्टि की संरक्षण, सम्वर्धन एवम् प्रोत्साहन देने हेतु की गई व्यवस्था अमानवीय अथवा पाशविक व्यवस्था है।

❖ अमानवीय स्वभाव—हीनता, दीनता एवम् क्रूरता ही अमानवीय स्वभाव है।

❖ अमानवीय विषय—आहार, निद्रा, भय एवम् मैथुन ही अमानवीय विषय है।

❖ अमानवीय दृष्टि—प्रियाप्रिय, हिताहित एवम् लाभालाभ ही अमानवीय दृष्टि है।

● मानवीय स्वभाव, विषय एवम् दृष्टि को संरक्षण, सम्बर्धन एवम् प्रोत्साहन देने वाली व्यवस्था मानवीय व्यवस्था है।

❖ मानवीय स्वभाव—धीरता, वीरता और उदारता ही मानवीय स्वभाव है।

❖ मानवीय विषय—पुत्रेषणा, वित्तेषणा एवम् लोकेषणा ही मानवीय विषय है।

❖ मानवीय दृष्टि—न्यायान्याय, धर्माधर्म एवम् सत्यासत्य ही मानवीय दृष्टि है।

★ न्याय—मानवीयता के संरक्षणात्मक नीतिपूर्वक किये जाने वाले व्यवहार की न्याय संज्ञा है।

● अतिमानवीय स्वभाव, विषय एवम् दृष्टि के विकास के लिए समुचित अवसर एवम् साधन की नियोजित करने वाली व्यवस्था एवम् वैयक्तिक प्रयास को अतिमानवीय सामाजिक व्यवस्था की संज्ञा है।

❖ अतिमानवीय स्वभाव—दया, कृपा और करुणा ही अतिमानवीय स्वभाव है।

❖ दया—जिनमें पात्रता हो, परन्तु उसके अनुरूप वस्तु उपलब्ध न हो, ऐसी स्थिति में, उसे वह वस्तु उपलब्ध कराने हेतु किये गये प्रयुक्ति की दया संज्ञा है।

❖ कृपा—जिसमें जितनी वस्तु है पर उसके अनुरूप पात्रता नहीं है, उनको पात्रता उपलब्ध कराने वाली प्रयुक्ति की कृपा संज्ञा है।

❖ करुणा—जिनमें पात्रता और वस्तु दोनों न हो, उनको उसे उपलब्ध कराने वाली प्रयुक्ति की करुणा संज्ञा है।

❖ अतिमानवीय विषय—शून्य (ईश्वर)

❖ अतिमानवीय दृष्टि—मात्र सत्य।

● न्याय व अन्यायपूर्ण लक्ष्य भेद से सम्पर्क सफल एवम् असफल सिद्ध होता है, जिससे सामाजिकता का विकास व ह्रास सिद्ध होता है।

❖ सम्पर्क—जिस परस्परता में प्रत्याशाएँ ऐच्छिक रूप में निहित है, ऐसे मिलन की सम्पर्क संज्ञा है।

● ऐहिक एवम् आमुष्मिक (देव तथा दिव्य मानव बनने की इच्छा) उद्देश्य के भेद से सम्बन्ध है।

❖ सम्बन्ध—जिस परस्परता में प्रत्याशाएँ पूर्व निश्चित रहती है ऐसे मिलन की सम्बन्ध संज्ञा है।

● सामाजिकता का निर्वाह कर्तव्य एवम् निष्ठा से है जिससे सामाजिकता का विकास तथा अन्यथा से ह्रास है।

⁘ निर्वाह—परस्परता को झेलना ही निर्वाह है।

⁘ कर्तव्य—करने योग्य कार्य, व्यवहार एवम् भाव निर्वाह क्रिया की कर्तव्य संज्ञा है।

⁘ निष्ठा—कर्तव्य की निरन्तरता ही निष्ठा है।

★ सामाजिकता के निर्वाह के लिये साधन आवश्यक है। मनुष्य के पास इसके लिये बौद्धिक एवम् भौतिक साधन है।

⁘ साधन—साध्य को अथवा साध्य के लिये आवश्यकीय वस्तु एवम् पात्रता को साधन की संज्ञा है, जो हर साधक में अपेक्षणीय है।

⁘ बौद्धिक साधन—क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के रूप में बौद्धिक साधन है।

⁘ भौतिक साधन—सामान्य एवम् महत् आकांक्षाओं के लिये आवश्यकीय रचना एवम् वस्तु के रूप में भौतिक साधन हैं।

★ उपरोक्तानुसार वर्णित साधनों को प्रयुक्त करने हेतु जो प्रयत्न, प्रयास एवम् व्यवसाय है, उसमें इच्छा का होना आवश्यक है। जो जिसको पाने के लिये तीव्र इच्छा से संवेगित होता है वह उसे पाये बिना तृप्त नहीं होता।

★ बौद्धिक एवम् भौतिक साधनों की प्रयुक्ति के लिये इच्छा किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही होती है। यह आवश्यकता स्वार्थ, परार्थ अथवा परमार्थ भेद से होती है।

⁘ स्वार्थ—सीमित एवम् संकीर्ण अर्थ नियोजन योजना की स्वार्थ संज्ञा है जो एक मनुष्य अथवा परिवार तक ही सीमित रहती है अथवा

वैयक्तिक या पारिवारिक इन्द्रिय सुख-सुविधा के लिये जो विचार एवम् व्यवहार है वह स्वार्थ है।

⁘ परार्थ—दूसरों की सुख सुविधा के लिये जो विचार एवम् व्यवहार है और इसकी पूर्ति के लिये जो अर्थ नियोजन की जो प्राथमिकता है, उसकी परार्थ संज्ञा है।

⁘ परमार्थ—जिस विचार एवम् व्यवहार में समाधान की उपलब्धि हो और समस्या का निराकरण हो और मात्र स्नेह का ही सम्बन्ध हो, इसकी पूर्ति के लिये जो अर्थ नियोजन है उसकी परमार्थ संज्ञा है।

× उपरोक्त नियम ही विभिन्न प्रकार की गठित सामाजिक इकाईयों के लिए भी लागू होगा।

★ अर्थ मात्र तीन ही है—तन, मन और धन।

● बौद्धिक प्रयोग एवम् प्रयास से बौद्धिक समाधान तथा भौतिक प्रयोग, प्रयास एवम् व्यवसाय से भौतिक समृद्धि की उपलब्धि होती है। बौद्धिक समाधान और भौतिक समृद्धि सामाजिकता के विकास के लिये सहायक है।

★ भौतिक समृद्धि के लिये प्राकृतिक वैभव का उपयोग एवम् उपभोग अनिवार्य हैं। खनिज, वनस्पति और जीव (पशु-पक्षी) प्राकृतिक वैभव है।

★ प्राकृतिक वैभव के उपयोग और उपभोग के लिए अर्थ का नियोजन आवश्यक है।

× अर्थ—तन, मन एवम् धन का नियोजन मानवीय तथा अतिमानवीय भेद से प्रयुक्त करने से सामाजिकता का विकास तथा अमानवीय भेद से प्रयुक्ति पर सामाजिकता का ह्रास अवश्यमभावी है।

● अमानवीय समाज के गठन के मूल में बलवान जीव का भय है।

★ इसी प्रकार मानव समाज गठन के मूल में प्राकृतिक भय

पाशवीय (अमानवीय) भय तथा मनुष्य में निहित अमानवीयता के भय से मुक्त होना लक्ष्य है ।

● मनुष्य मात्र द्वारा समस्त प्रयास एवम् प्रयोग तृप्ति अथवा सुख के लिये है ।

● ऐन्द्रिय (भौतिक), बौद्धिक (वैचारिक) एवम् आध्यात्मिक (अनुभूति) भेद से तृप्तियाँ अथवा सुख है ।

★ शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवम् गन्धेन्द्रियों द्वारा आहार, निद्रा, भय और मैथुन से होने वाली सभी तृप्तियाँ ऐन्द्रिय है जो सामयिक होती है ।

★ वित्तेषणा, पुत्रेषणा तथा लोकेषणा तथा समाधान से प्राप्त तृप्ति को बौद्धिक तृप्ति संज्ञा है जो दीर्घकालीन या दीर्घ-परिणामी है ।

★ ज्ञानानुभूति तथा पूर्ण विश्राम की आध्यात्मिक तृप्ति संज्ञा है जो अपरिणामी अथवा नित्य है ।

⁑ वित्तेषणा—धन-बल कामना की वित्तेषणा संज्ञा है ।

⁑ पुत्रेषणा—जन-बल कामना एवम् वंश संरक्षण विचार की पुत्रेषणा संज्ञा है ।

⁑ लोकेषणा—यश-बल कामना की लोकेषणा संज्ञा है ।

⁑ समाधान—कैसे और क्यों की पूर्ति की समाधान संज्ञा है ।

⁑ पूर्ण-विश्राम—जिसमें श्रम नहीं है, जिसके द्वारा श्रम नहीं होता है, उस अनुभूति की विश्राम संज्ञा है ।

★ इच्छानुसार द्रवित होने वाले अंग की इन्द्रिय, बोध कराने वाले अंग की बुद्धि, अस्तित्व की अनुभूति करने वाले अंग

की आत्मा, समस्त आत्माओं के आधारभूत सत्ता को आध्यात्म की भी संज्ञा दी जाती है ।

× आवश्यकता तथा उपयोगिता का निर्णय उपरोक्त तीन तृप्तिकारक अथवा सुखकारक लक्ष्य भेद से निर्णय किया जाता है ।

● ऐन्द्रिय तृप्ति क्षणिक, बौद्धिक तृप्ति दीर्घपरिणामी तथा आध्यात्मिक तृप्ति नित्य अथवा अपरिणामी सिद्ध होती है ।

● प्रियाप्रिय विषय सापेक्ष, हिताहित शरीर सापेक्ष, लाभालाभ वस्तु व सेवा सापेक्ष, न्यायान्याय व्यवहार सापेक्ष, धर्माधर्म समाधान सापेक्ष तथा सत्यासत्य अस्तित्व सापेक्ष पद्धति से स्पष्ट होता है ।

★ इन्द्रिय तृप्ति प्रिय विषय प्राप्त होने पर होती है । अप्रिय विषय प्राप्त होने पर इन्द्रियाँ तृप्त नहीं होती है ।

★ हृदय के तृप्त होने पर हित तथा स्वास्थ्य का लाभ होता है । हृदय के अतृप्त रहने पर अहित तथा स्वास्थ्य का लाभ नहीं होता है ।

● तृप्ति सामयिक प्रतिक्रिया है ।

⁑ तृप्ति—आंदोलनों से मुक्त क्रिया का तृप्ति संज्ञा है ।

⁑ आंदोलन—हृदय के सम्वर्धन तथा संरक्षण की अक्षुण्णता इसके क्रिया एवम् गति के सन्तुलन से बनी रहती है, इस क्रिया एवम् गति के घट या बढ़ जाने की आन्दोलन संज्ञा है । आन्दोलन का सम्बन्ध मूलतः सम्बर्धन तथा संरक्षण से है ।

★ इन्द्रिय तृप्ति से हृदय तृप्ति आवश्यक नहीं है पर हृदय तृप्ति से इन्द्रिय तृप्ति होती ही है ।

● लघु मूल्य के बदले गुरू मूल्य का आदाय लाभ है ।

● लघु मूल्य के बदले गुरू मूल्य का प्रदाय तीन परिस्थितियों में होता है—(१) विवशता वश (२) स्वेच्छा वश तथा (३) अज्ञान वश।

★ विवशतावश लघु मूल्य के बदले गुरू मूल्य प्रदाय करने की क्रिया लाभ एवम् संग्रह वृत्ति से मुक्त तथा शोषण से युक्त होती है।

★ स्वेच्छा वश लघु-मूल्य के बदले गुरु मूल्य प्रदाय करने की क्रिया से मानसिक संतोष की उपलब्धि होती है तथा यह प्रदाय, त्याग एवम् उदारता की भावना से युक्त होता है।

★ अज्ञानवश लघुमूल्य के बदले गुरू मूल्य प्रदाय करने की क्रिया लोभ, लाभ एवम् संग्रह की प्रवृत्ति तथा हानि से मुक्त होती है तथा शोषण से युक्त होती है।

● गुरू मूल्य के बदले लघु मूल्य का प्रदाय चार परिस्थितियों में होता है—(१) प्रलोभन वश. (२) हीनता वश, (३) क्रूरता वश, तथा (४) दीनता वश।

★ प्रलोभनवश गुरू मूल्य के बदले लघु मूल्य प्रदान करने की क्रिया शोषण, संग्रह और द्रोह से युक्त होती है।

★ हीनतावश गुरू मूल्य के बदले लघु मूल्य का प्रदाय करने की क्रिया शोषण, संग्रह, द्रोह और विश्वासघात से युक्त होती है।

★ क्रूरतावश गुरू मूल्य के बदले लघु-मूल्य का प्रदाय करने की क्रिया शोषण, संग्रह, द्रोह तथा हिंसा से युक्त होती है।

★ दीनतावश गुरू मूल्य के बदले लघु मूल्य का प्रदाय करने की क्रिया अक्षमता एवम् अभाव के कारण सम्पन्न होती है तथा ऐसी क्रिया केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही सम्पन्न की जाती है।

● समस्त व्यवहार कुल छः दृष्टियों में परिलक्षित है—

(१) प्रियाप्रिय, (२) हिताहित, (३) लाभालाभ, (४) न्यायान्याय, (५) धर्माधर्म और (६) सत्यासत्य।

★ समस्त जीवावस्था की इकाईयों तथा अमानवीयतापूर्ण दृष्टि युक्त मनुष्यों का व्यवहार मात्र तीन दृष्टियों यथा—प्रियाप्रिय, हिताहित और लाभालाभ के आश्रय में है।

● समस्त ज्ञानावस्था की इकाईयों का व्यवहार, जो मानवीयतापूर्ण व्यवहार से युक्त है, न्यायान्याय धर्माधर्म तथा सत्यासत्य के आश्रय में है।

● मानव के लिए आवश्यकीय व्यवहार न्यायपूर्ण नियमों का पालन है तथा आवश्यकीय विचार धर्मपूर्ण नियमों का पालन है।

★ उपरोक्त सूत्र के विपरीत नियमों का पालन ही मनुष्य के लिये अनावश्यकीय व्यवहार एवम् विचार है।

★ उपरोक्तानुसार समस्त जीव-पशु-पक्षी, वैषयिक-सामाजिक - प्राणी तथा मनुष्य न्यायिक - सामाजिक-प्राणी सिद्ध होते हैं।

★ सामान्यतः पशुओं की सामाजिकता का भास भय की अवस्था में परिलक्षित हुआ है। किसी भी स्थिति में पशुओं की सामाजिकता का भास अध्ययन, उत्पादन तथा व्यवस्था कार्य में परिलक्षित नहीं हुआ है कि जबकि मनुष्यों में सामाजिकता का मूल आधार यही है।

★ पशुओं में आहार, निद्रा, भय और मैथुन—चार विषय ही प्रसिद्ध है, जबकि मनुष्यों में इनके अतिरिक्त सामान्यतः ईषणात्रय अर्थात् पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा भी पाई जाती है तथा विश्राम के लिए कामना, मनुष्यों में, विशिष्ट रूप से पाई जाती है।

● पूर्ण विश्राम ही दुःख का उन्मूलन तथा मोक्ष है ।

● सृष्टि का चरम लक्ष्य ही विश्राम है, इसीलिए विश्राम के लिए मनुष्य व्याकुल रहता है ।

● मनुष्येतर सृष्टि में जो ज्ञान उपयोग में आया है, उसे सामान्य ज्ञान की संज्ञा है । मनुष्य द्वारा जो ज्ञान व्यवहृत है, वह दो वर्ग में परिलक्षित है—

(१) विवेक, और (२) विज्ञान

● विवेक और विज्ञान सम्पन्न होने के कारण ही मनुष्य ने विश्राम को पहचाना है तथा इसके लिए समुचित प्रयोग भी किया है, जो सृष्टि के श्रम का उद्देश्य एवम् फल भी है ।

● मनुष्य कर्म करते समय में स्वतन्त्र तथा फल भोगते समय में परतन्त्र है, जबकि पशु कर्म करते समय भी और फल भोगते समय भी परतन्त्र है ।

● कर्म की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप ही मनुष्य को जितना उन्नतावकाश है, उतना ही अवनतावकाश भी है । फलतः मनुष्य ने सामान्यतः क्रमशः विषयों, ईषणाओं तथा मोक्ष के द्वारा विश्राम पाने का प्रयास किया है ।

★ पूर्व में ही वर्णित किया जा चुका है कि विकसित ईकाई में अविकसित ईकाई के अथवा विकसित सृष्टि में अविकसित सृष्टि के सभी गुण, स्वभाव एवम् धर्म समाहित रहते ही हैं । तद्नुसार मनुष्य गलती करने का अधिकार लेकर तथा सही करने का अवसर एवम् साधन लेकर जन्मता है । उदाहरणार्थ—

एक अध्यापक कक्षा में गणित पढ़ाता है । अध्यापक सही ही पढ़ाता है और सबको समान रूप से सम्बोधित भी करता है, फिर भी विद्यार्थी गलती करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि बालक के मन मस्तिष्क में गलती करने का जो तत्व है, वह है ही । इसी के साथ यह भी

सिद्ध होता है कि वातावरण एवम् अध्ययन के दबाव से वही विद्यार्थी पुनः सही करने में भी समर्थ होता है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि वातावरण तथा अध्ययन प्रत्येक मानव को एक अवसर के रूप में मौलिकतः प्राप्त है ।

● मनुष्य ने अपनी आवश्यकता की पर्ति के लिए ही व्यवसाय एवम् प्रयोग किया है । व्यवसाय एवम् प्रयोग का फल ही अर्थोपार्जन है ।

× यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है कि प्रत्येक मनुष्य प्राप्त अर्थ की सुरक्षा एवम् सदुपयोग चाहता है ।

● अपने अपने योग्यता, क्षमता एवम् पात्रता अनुसार प्रत्येक मनुष्य ने प्राप्त अर्थ के सदुपयोग एवम् सुरक्षा की कामना से वैयक्तिक नीति निर्धारण किया जिससे मतभेद उत्पन्न हुआ । फलस्वरूप मानव ने सिद्धान्तपूर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्वेषण किया जिससे एक मौलिक सिद्धान्त उपस्थित हुआ, जो निम्नानुसार है —

● "मनुष्य सही में एक तथा गलती में अनेक है"

● सिद्धान्त ही नियम, नियम ही विज्ञान एवम् विवेक, विज्ञान एवम् विवेक ही ज्ञान तथा ज्ञान ही सिद्धान्त है ।

:: सिद्धान्त—नियम, प्रक्रिया एवम् उपलब्धि जिस समय भाषा के रूप में अवतरित होता है, उसे सिद्धान्त की संज्ञा है ।

:: नियम—क्रिया के संरक्षण एवम् अनुशासन रीति की नियम संज्ञा है ।

● मानवीयता के संरक्षण हेतु ही मनुष्य सामाजिकता यथा मानवीयतापूर्ण संस्कृति, सभ्यता, कानून और व्यवस्था का अध्ययन, प्रयोग एवम् पालन करना चाहता है चूंकि यह चारों परस्पर पूरक है ।

● विज्ञान एवम् विवेकपूर्ण विचार, व्यवहार, अध्ययन, अध्यापन, व्यवसाय, उपयोग, उपभोग, वितरण, प्रचार, प्रदर्शन, विधि एवम् व्यवस्था ही मानवीयता के संरक्षण के लिए मानव द्वारा अनुभूत सम्पूर्ण कार्यक्रम है।

❖ विचार—प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ, न्यायान्याय धर्माधर्म तथा सत्यासत्य तुलनात्मक वृत्ति की क्रिया के फलस्वरूप निश्चित कल्पना की विचार संज्ञा है।

❖ अध्ययन—अधिष्ठान (आत्मा) की साक्षी में स्मरणपूर्वक किए गए प्रक्रिया एवम् प्रयास की अध्ययन संज्ञा है।

❖ अध्यापन—अधिष्ठान की साक्षी में स्मरणपूर्वक ग्रहण करने योग्य, सत्यतापूर्वक क्रियाओं को बोधगम्य बनाने योग्य प्रक्रिया की अध्यापन संज्ञा है।

❖ प्रचार एवम् प्रदर्शन—इच्छित वस्तु की सामान्य जन-जाति के मन-बुद्धि में अवगाहन कराने हेतु प्रस्तुत प्रक्रिया के भाषात्मक प्रयोग की प्रचार संज्ञा है तथा कला एवम् भाषा सहित प्रयुक्त प्रयास की प्रदर्शन संज्ञा है।

❖ विधि—एक या अनेक व्यक्तियों द्वारा सामाजिकता को अक्षुण्ण रखने के उद्देश्य से व्यवस्था प्रदान करने हेतु निर्णीत नियमपूर्ण पद्धतियों की विधि संज्ञा है।

❖ व्यवस्था—विधि के आशय को कार्यरूप प्रदान करने हेतु प्रस्तुत परम्परा की व्यवस्था संज्ञा है।

● सह-अस्तित्व के बिना सामाजिकता का निर्वाह नहीं है।

● सह-अस्तित्व के बिना निर्विरोध, निर्विरोध के बिना विकास, विकास के बिना समृद्धि, समृद्धि के बिना समाधान, समाधान के बिना सुख, सुख के बिना स्नेह, स्नेह के बिना विश्वास तथा विश्वास के बिना सह-अस्तित्व नहीं है।

❖ सह-अस्तित्व—परस्परता में शोषण, संग्रह एवम् द्वेष रहित तथा त्याग, स्नेह और सेवा सहित व्यवहार, सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह ही सह-अस्तित्व है।

❖ निर्विरोध—न्याय एवम् धर्म के प्रति निश्चय, निष्ठा एवम् अभ्यास ही निर्विरोध है।

❖ समृद्धि—अभाव का अभाव ही समृद्धि है अथवा उत्पादन अधिक, उपभोग कम ही समृद्धि है।

❖ सुख—न्यायपूर्ण व्यवहार एवम् धर्मपूर्ण विचार की प्रतिक्रिया ही सुख है।

❖ स्नेह—न्यायपूर्ण व्यवहार में निर्विरोधिता की प्रतिक्रिया ही स्नेह है। यह वृत्ति से अनुरंजित मन की क्रिया है।

❖ विश्वास—परम्परा में निहित प्रत्याशा के निर्वाह क्रिया की विश्वास संज्ञा है।

× जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मनुष्य ने प्रयोग एवम् व्यवसाय से प्राप्त अर्थ यथा तन, मन और धन के सदुपयोग एवम् सुरक्षा की कामना किया है।

× अर्थ का सदुपयोग एवम् इसकी सुरक्षा केवल मानवीयतापूर्ण व्यवहार एवम् विचार के संरक्षण से ही सम्भव है। जिसके लिए मनुष्य द्वारा विज्ञान एवम् विवेक द्वारा व्यवस्था का निर्णय किया जाता है।

× सम्पूर्ण मानव में दो प्रकार की व्यवस्थाएँ परिलक्षित होती है (१) धर्म नैतिक व्यवस्था और (२) राजनैतिक व्यवस्था।

● सामाजिकता के संरक्षण के लिए इन दोनों व्यवस्थाओं का परस्पर पूरक होना अत्यावश्यक है।

● प्राप्त अर्थ के सदुपयोग के लिए धर्मनैतिक व्यवस्था तथा इसकी सुरक्षा के लिए राजनैतिक व्यवस्था का विकास मानव ने किया है।

★ इस प्रकार धर्म नैतिक व्यवस्था तथा राजनैतिक व्यवस्था का क्षेत्र बिलकुल ही स्पष्ट है। जब यह दोनों व्यवस्थाएँ एक दूसरे की पोषक अथवा पूरक न होकर एक दूसरे की शोषक या एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगती है तभी सामाजिक असंतुलन उत्पन्न होता है और अमानवीयतापूर्ण विचारएवम् व्यवहार को पुष्टि मिलती है।

● अर्थ की सुरक्षा के लिए विधि एवम् व्यवस्था पक्ष है।

× विधि पक्ष की उपादेयता वैयक्तिक एवम् सामूहिक अर्थ को चोरी, शोषण, अपव्यय अथवा दुरुपयोग से मुक्त कराना है। उपरोक्तानुसार व्यवस्था की उपादेयता विधि के आशय को कार्यरूप प्रदान करने हेतु परम्परा को स्थापित करना है।

● सम्पूर्ण सृष्टि जड़ एवम् चैतन्य भेद से परिलक्षित है।

★ चैतन्य पक्ष के अभाव में शरीर द्वारा किसी भी क्रिया का सम्पादन सम्भव नहीं है। मानव चैतन्य सृष्टि की विकसित इकाई है।

● चेतना (ज्ञान) व्यापक है। चेतना निष्क्रिय है। व्यापक एवम् चेतन होने के कारण चेतना इकाई सिद्ध नहीं होती। चेतना सृष्टि का मूल कारण सिद्ध नहीं होता। क्योंकि चेतना में परिणाम इकाईत्व के अभाव में नहीं है।

× सृष्टि की समस्त इकाईयाँ अपने पात्रता के अनुसार चेतना से प्रभावित है। इस प्रभाव का फल ही इकाईयों की अक्षुण्ण चेष्टा है। चेष्टा ही क्रिया के मूल में है और यही श्रम, गति और परिणाम का कारण है। चेष्टा ही जड़ पदार्थ के विकास का मूल कारण है। पदार्थ के

परिणाम स्वरूप ही जड़ सृष्टि विकास के क्रम में क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता को अर्जित कर चैतन्य सृष्टि के रूप में काल क्रम से, परिलक्षित होता है।

× एक मनुष्य में बौद्धिक तथा भौतिक दोनों पक्षों को सम्मिलित रूप में व्यवहार में पाया जाता है तथा शरीर के द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सभी क्रियाओं में यह दोनों अर्थात बौद्धिक और भौतिक क्रियाएँ सम्मिलित पाई जाती है।

× भौतिक पक्ष से तात्पर्य शरीर तथा उसके द्वारा की गई रचना से है। बौद्धिक पक्ष से तात्पर्य आशा, विचार, इच्छा व संकल्प एवम् इससे सम्बन्धित प्रक्रिया है।

∷ आशा—आश्रयपूर्ण आशय क्रिया को आशा की संज्ञा है।

∷ इच्छा—आकार-प्रकार, प्रयोजन एवम् सम्भावना का चित्र ग्रहण एवम् निर्माण करने तथा गुणों का गति पूर्वक नियोजन करने वाली क्रिया की इच्छा संज्ञा है।
(सापेक्ष शक्ति = गुण)

∷ संकल्प—सम्यक प्रकार से की गई स्वीकृति—(जिसको स्वीकार करता है उसकी निर्भ्रमता की निरंतरता प्रदान करने वाली बौद्धिक क्रिया की संकल्प संज्ञा है।

★ मानव द्वारा सृष्टि में अपने महत्व को जानने और पहचानने के क्रम में हर इकाई के गठन, क्रिया और आचरण का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

● उपरोक्त अध्ययन के क्रम में यह अनुभव में आया कि मूल इकाई जड़ परमाणु ही है जिसने विकास पूर्वक चैतन्यता को प्राप्त किया है।

∷ गठन—एक से अधिक कण या इकाईयों के किसी नियम द्वारा

अनुशासित एवम् सीमाबद्ध निश्चित क्रिया को अक्षुण्णता प्रदान करने वाली प्रक्रिया की गठन संज्ञा है।

:: आचरण—जिस क्रिया से मौलिकता का मूल्यांकन होता है उसे आचरण कहते हैं।

:: जड़ – विचार पक्ष से रहित इकाई जिसका कार्य क्षेत्र उसके लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई तक ही सीमित है।

:: चैतन्य—जिस इकाई का कार्य क्षेत्र उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई से अधिक हो तथा जिसका विचार पक्ष सक्रिय हो—ऐसी इकाई की चैतन्य संज्ञा है।

● ऐसी विशेष सक्रियता प्राप्त होते ही वह इकाई आशा के बन्धन से युक्त हो जाती है। प्रमाण—हर जीव में जीने की आशा है ही।

● जड़ एवम् चैतन्य इकाइयों में गठन साम्यता पाई जाती है पर इनकी क्रिया एवम् आचरण में भेद, अपने विकास के अंश अनुसार, पाया जाता है अर्थात् यही वैविध्यता इनके क्रमागत विकास को भी सिद्ध करता है और साथ ही अपेक्षाकृत अध्ययन के लिये उत्साह एवम् कौतूहल उत्पन्न करता है।

● आत्मा में अनुभूति, बुद्धि में आप्लावन, चित्त में आह्लाद, वृत्ति में उत्साह तथा मन में कौतूहल—यह विकास की ओर सक्रिय होने की मूलभूत ऊर्जा नियोजन रीति है।

:: आत्मा—चैतन्य परमाणु के मध्यांश की आत्मा संज्ञा है।

:: बुद्धि—मध्यांश के आश्रित प्रथम परिवेशीय कण की बुद्धि संज्ञा है।

:: चित्त—मध्यांश के आश्रित द्वितीय परिवेशीय कण की चित्त संज्ञा है।

:: वृत्ति—मध्यांश के आश्रित तृतीय परिवेशीय कण की वृत्ति संज्ञा है।

:: मन—मध्यांश के आश्रित चतुर्थ परिवेशीय कण की मन संज्ञा है।

:: अनुभूति—अनुक्रम से प्राप्त जानकारी, उत्पत्ति या परिणाम की अनुभूति संज्ञा है।

:: आप्लावन—निर्भ्रमता के प्रभाव की आप्लावन संज्ञा है। बुद्धि ही निर्भ्रमता को प्राप्त कर आप्लावित होती है।

:: आह्लाद—अभाव के अभाव की आह्लाद संज्ञा हैं। चित्त में ही अभाव के अभाव की प्रतीति होकर आह्लाद होता है।

:: उत्साह—उत्थान या विकास के ओर जो साहस है, उसकी उत्साह संज्ञा है तथा यह वृत्ति को होता है।

:: कौतूहल—अज्ञात को ज्ञात करने, अप्राप्त को प्राप्त करने हेतु प्राप्त सम्वेग की कौतूहल संज्ञा है। जो मन को होता है।

★ पदार्थ का अति सूक्ष्मांश हर परमाणु के मध्य-स्थिति में अवस्थित पाया जाता है। इसके प्रथम परिवेश में एक या एक से अधिक सूक्ष्मांश (कण), उसी प्रकार द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ आदि परिवेश में भी एक या एक से अधिक सूक्ष्मांशों (कणों) को पाया जाता है, जो मध्यांश के सभी ओर अविरत रूप से भ्रमणशील है। प्रत्येक परमाणु के सभी ओर तथा परमाणु के गठन में पाए जाने वाले सूक्ष्मांशों (कणों) के सभी ओर शून्य की स्थिति पाई जाती है। शून्य से रिक्त व मुक्त स्थान या वस्तु नहीं है।

× जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है—चैतन्य इकाई के मध्यांश को आत्मा, उसके प्रथम परिवेशीय अंश

को बुद्धि, द्वितीय परिवेशीय अंश को चित्त, तृतीय को वृत्ति तथा चतुर्थ को मन की संज्ञा है।

★ इस पृथ्वी पर प्रत्यक्ष रूप में सृष्टि की चार अवस्थाएँ हैं, जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। इन चारों प्रजातियों के परमाणुओं का मध्यांश मध्यस्थ क्रिया है, क्योंकि उस पर सम या विषम का प्रभाव नहीं पड़ता है।

★ चारों अवस्थाओं के परमाणुओं में श्रम, गति एवम् परिणाम की सम्भावनाएँ बनी ही रहती है, जब तक कि विश्रामानुभूति योग्य क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता का विकास न हो जाय।

● पदार्थावस्था में चतुर्थ परिवेशीय अंश ही श्रम पूर्वक क्षुब्ध है अथवा अग्रेषण क्रिया में रत है।

⁂ क्षोभ—क्षमता एवम् योग्यता को श्रम में परिवर्तित करने पर जो ह्रास है उसे क्षोभ की संज्ञा है।

⁂ अग्रेषण—क्षमता एवम् योग्यता को श्रम में परिवर्तित करने में जो विकास है अथवा पात्रता का अर्जन है—उसे अग्रेषण की संज्ञा है।

● प्राणावस्था में चतुर्थ एवम् तृतीय परिवेशीय अंश ही सक्रिय होकर श्रम पूर्वक क्षुब्ध तथा खेदित है। फलतः, अग्रेषण तथा स्वस्थ्यता हेतु क्रिया में रत है।

⁂ खेद—आवश्यकीय तत्वों के अभाव की अभिव्यक्ति की खेद संज्ञा है।

⁂ स्वस्थ—आवश्यकीय तत्वों की पाचन पूर्वक उपलब्धि के प्रदर्शन की स्वस्थ संज्ञा है।

● जीवावस्था में चतुर्थ, तृतीय एवम् द्वितीय परिवेशीय अंश की सक्रिय

होकर श्रम पूर्वक क्षुब्ध, खेदित एवम् तृषित है। फलतः अग्रेषण, स्वस्थता एवम् तृप्ति के लिए क्रिया रत है।

⁂ तृषित—शोषण क्रिया के प्रयासोदय की तृषा संज्ञा है।

● ज्ञानावस्था में चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय एवम् प्रथम परिवेशीय अंश सक्रिय होकर श्रम पूर्वक क्षुब्ध, खेदित, तृषित एवम् सुखाकांक्षित है। फलतः अग्रेषण, स्वस्थता, तृप्ति तथा सुख के लिए क्रिया में रत है।

⁂ कांक्षा—कारण सहित आशा की कांक्षा संज्ञा है।

● ज्ञानावस्था में ईष्ट सेवन का लक्ष्य ईष्ट से तादात्म्य, तद्रूप, तत्सन्निधि एवम् तदावलोकन है। यह ईष्ट के नाम रूप, गुण एवम् स्वभाव तथा साधक की क्षमता, योग्यता तथा पात्रता के अनुपात में सफल होती है।

⁂ ईष्ट—निर्भ्रान्ति जानकारी सहित स्वेच्छापूर्वक जिसके प्रति श्रद्धा, विश्वास एवम् निष्ठा है, उसकी ईष्ट संज्ञा है।

● ज्ञानावस्था की इकाई की समस्त क्रियाओं का लक्ष्य निर्बीजन व्यवहार की उपलब्धि है।

● निर्बीजन व्यवहार जीवन-मुक्ति के स्थिति में होता है।

● निर्बीजन व्यवहार में अमानवीयता से मुक्ति, मानवीयता का पोषण तथा अतिमानवीयतापूर्ण स्थिति की कामना है।

● क्रिया की नश्वरता और सत्य की शास्वत सत्ता की पूर्ण स्वीकृति व अनुभूति, ही निर्बीज (अनासक्त) विचार है और तद्नुसार व्यवहार ही निर्बीजन व्यवहार है।

● अनासक्त विचार ही जीवन मुक्त की या दिव्यमानव की स्वभाव-सिद्ध वैचारिक प्रक्रिया है।

● जीवन-मुक्त को भूतकाल का स्मरण तथा भविष्य की आशा से पीड़ा व वर्तमान से विरोध नहीं है।

● जीवन-मुक्ति—मध्यस्थ स्थिति है। मध्यस्थ स्थिति के लिए सम व विषम दोनों क्षोभ का कारण है।

● क्षोभ ही दुःख अथवा क्लेश है।

● क्षोभ अथवा दुःख के निवारण हेतु ही जीने की आशा है।

● जीने की आशा में उद्‌भव, विभव एवम् प्रलय समाविष्ट है। यह जीवावस्था के भाव की क्रिया है। इनमें विभव सबसे प्रिय है जो स्थायी नहीं है। मनुष्य विभव में ही बल, रूप, पद व धन के स्थायीकरण के लिए प्रयास करता है, जो उसका स्थायी गुण न होने के कारण असफल है। उपरोक्तानुसार विभव काल की स्थिरता तथा इसमें की गई उपलब्धियों की स्थिरता सिद्ध नहीं होती।

● आकृति को रूप, प्रभाव को गुण, वस्तुस्थिति को तत्व तथा किसी रूप, क्रिया, वस्तु व स्थान को निर्देश करने हेतु प्रयुक्त शब्द की 'नाम' संज्ञा है।

● रूप एवम् गुण सापेक्ष और सामयिक तथ्य है।

:: सामयिक तथ्य किसी क्रिया या क्रिया समुच्चय का परिणाम भावी है, उसे सामयिक तथ्य की संज्ञा है।

● समस्त तत्व निरपेक्ष के संग में रत है।

● भाषा के मूल में भाव; भाव के मूल में मौलिकता; मौलिकता के मूल में मूल्यांकन; मूल्यांकन के मूल में दर्शन; दर्शन के मूल में दर्शक; दर्शक के मूल में क्षमता; योग्यता एवम् पात्रता; क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के मूल में भास, आभास एवम् प्रतिभास; भास, आभास एवम् प्रतिभास के मूल में भाषा है। यह सब चित्त की क्रिया है। जो दर्शक के विकास के अनुसार सफल अथवा असफल है।

● जड़ एवम् चैतन्य सृष्टि की इकाईयों की शरीर रचना में इतना अन्तर है कि चैतन्य शरीर मेधस युक्त है तथा जड़ शरीर मेधस रहित है।

जड़ का अन्तिम विकास मेधस है। मेधस ही चैतन्य शरीर, और जड़ शरीर का मौलिक अन्तर स्पष्ट करता है।

:: मेधस—चैतन्य इकाई की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के संकेत को ग्रहण करने योग्य क्षमता, योग्यता और पात्रता सहित सप्राण अंग की मेधस संज्ञा है, जिसकी अवस्थिति साम्यतः मनुष्य के शिरोभाग में पाई जाती है।

● पुंजस्थ आशा, विचार, इच्छा एवम् संकल्प का प्रसारण (संकेतग्रहण) मेधस पर ही है जिसके अनन्तर ही ज्ञानवाही एवम् क्रियावाही प्रक्रियाएँ हर चैतन्य इकाई के शरीर में पाई जाती है।

:: पुंज—सचैतन्य इकाई की कार्य सीमा सहित जो आकार है, उसे पुंज की संज्ञा है। ऐसे पुंज के मूल में एक ही परमाणु का अस्तित्व है जिसमें ही आत्मा, बुद्धि, चित्त, वृत्ति तथा मन की क्रियाएँ दृष्टव्य है।

:: प्रसारण—आशा, विचार, इच्छा एवं संकल्प के दबाव से मेधस पर (जीवन कोषों पर) प्रभाव डालने हेतु प्रयुक्त तरंग की प्रसारण (संकेत ग्रहण) संज्ञा है जिसमें प्रत्याशा का होना आवश्यक है।

● ग्रहण, विसर्जन, निग्रह, संग्रह एवम् त्याग के भेद से ही समस्त सुखाकांक्षाएँ हैं।

:: ग्रहण—उपयोगिता के मूल्यांकन की ग्रहण संज्ञा है।

:: विसर्जन—अनुपयोगिता के मूल्यांकन की विसर्जन संज्ञा है।

● क्षोभ ताप के रूप में, खेद संताप के रूप में, तृषा एवम् आशा आयास और प्रयास के रूप में तथा कांक्षाएँ प्रयोग के रूप में है।

● आशाएँ आस्वादन के रूप में, विचार प्रसारण के रूप में, इच्छाएँ (कांक्षाएँ) प्रयोग एवम् व्यवसाय के रूप में तथा संकल्प दृढ़ता एवम् निष्ठा के रूप में व्यक्त है। यह क्रम से मन, वृत्ति, चित और बुद्धि से प्रदर्शित होने

वाले गुण स्वभाव सहित क्रिया पक्ष है अर्थात मन से आशा, वृत्ति से विचार, चित्त से इच्छा (कांक्षा) और बुद्धि से संकल्प की क्रियाएँ हैं।

● इकाई चैतन्य होते ही दृष्टि सम्पन्न हो जाती है।

● अपने दृष्टि के द्वारा दृश्य को देखने हेतु दर्शक द्वारा प्रयुक्त क्रिया एवम् प्रक्रिया की दर्शन संज्ञा है जिसकी उपलब्धि अर्थात दर्शन की उपलब्धि मात्र जानकारी या ज्ञान है, ज्ञान से ही स्व एवम् पर-भाव का निर्णय तथा अनुभव एवम् प्रदर्शन है।

★ अपने वातावरण में स्थित पूर्ण, अपूर्ण; रूप; गुण; स्वभाव; धर्म; योग; वियोग, क्रिया, प्रक्रिया, परिणाम; ह्रास और विकास का संकेत ग्रहण दर्शन द्वारा ही दर्शक ने किया है।

● सचैतन्य इकाई में 'आत्म-पुंज'-मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि व आत्मा का ही अध्ययन है।

× इसके पूर्व अमानवीयता और अतिमानवीयता का वर्गीकरण स्वभावात्मक एवम् व्यवहारात्मक भेद से किया जा चुका है। कुल मानव जाति पाँच श्रेणियों में परिलक्षित है जो निम्नानुसार है—

★ अमानवीयतापूर्ण मनुष्य के दो वर्ग हैं—

एक—पशु मनुष्य और दो—राक्षस मनुष्य।

● पशु मनुष्य में दीनता प्रधान—हीनता एवम् क्रूरता पूर्ण जीवन स्थापित तथा व्यवहृत होता है, और

● राक्षस मनुष्य में क्रूरता प्रधान-दीनता एवम् हीनता पूर्ण जीवन स्थापित तथा व्यवहृत होता है।

★ तीन। मानवीयतापूर्ण मनुष्य एक वर्ग में है।

★ अतिमानवीयतापूर्ण मनुष्य पुनः दो वर्ग में है।

चार— देव मनुष्य और पाँच—दिव्य मनुष्य।

★ अतिमानवीयता पूर्ण मनुष्य की दृष्टि, विषय और स्वभाव निम्नानुसार है—

● देव मनुष्य—दृष्टि—धर्माधर्म और सत्यासत्य।

विषय—लोकेषणा,

स्वभाव—धीरता, उदारता एवम् दयालुता।

● दिव्य मनुष्य—दृष्टि—सत्य

विषय—शून्य (ईश्वर)

स्वभाव—दया, कृपा एवम् करुणा।

★ उपरिवर्णित पांच श्रेणी के मनुष्य अपने से अविकसित श्रेणी के मनुष्य पर निरीक्षण, परीक्षण एवम् सर्वेक्षण पूर्वक तथा प्रशिक्षण सहित अधिकार करता है।

⁑ अधिकार—अपने मन्तव्य के अनुसार अन्य को गति एवम् कला प्रदान करना और उसका उपयोग, उपभोग एवम् शोषण तथा पोषण करने की क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता होना ही अधिकार है।

× उपरोक्त सब प्रशिक्षण से ही सम्पन्न होता है क्योंकि अविकसित पर अधिकार होता ही है और विकसित का मात्र अध्ययन ही सम्भव है।

★ उपरोक्तानुसार विवेचना के आधार पर ही इस वैविध्यता पूर्ण संसार के मूल में प्रत्येक मनुष्य अपना ही मूल्यांकन करना चाहता है, क्योंकि स्वयम् का मूल्यांकन यदि सही नहीं है तो उस स्थिति में अध्ययन के लिये आवश्यक सामर्थ्य को सजो लेना सम्भव नहीं है—जैसे एक रुपया के मौलिकता को पूरा का

पूरा समझे बिना दो एवम् उसके आगे वाले संख्या की गति एवम् प्रयोग नहीं है। एक रुपया के मूल्य को १ से ९९ पैसे तक मूल्यांकन करने की स्थिति में उस एक रुपया का पूर्ण मूल्यांकित ज्ञान उस इकाई में प्रादुर्भूत नहीं हुआ है।

× अतः मनुष्य को, अपने विकास की दृष्टि से, स्वयम् का मूल्यांकन करना प्राथमिक एवम् महत्वपूर्ण कार्यक्रम सिद्ध है।

× अध्ययन अपेक्षाकृत ढंग से ही होगा। इसके आनुसांगिक प्रथम व्यापकता की अपेक्षा में क्रिया का अध्ययन तथा क्रिया का अध्ययन ऋणात्मक और धनात्मक (तुलनात्मक) रूप, गुण, स्वभाव और धर्म से सम्बद्धित रहेगा ही। अध्ययन के ऋणात्मक पक्ष से मात्र अधिकार अर्जन होने के कारण इसके लिये निरीक्षण, परीक्षण एवम् सर्वेक्षण की संज्ञा ही उचित है, क्योंकि इससे विकास सम्भव नहीं है। अपितु, मात्र उपयोग, उपभोग, वितरण, प्रयास एवम् प्रयोग में इस रीति से प्राप्त की गई जानकारी प्रयुक्त की जाती है। यह ऐसे भी सिद्ध होता है कि धनात्मक अध्ययन अथवा विकास के लिए मूलतः उद्देश्य की कल्पना या आभास या आवश्यकता की अनुभूति रहना आवश्यक है, जिसके लिये सर्व प्रथम अध्ययन तथा द्वितीय में प्रयोग एवम् अभ्यास है। अध्ययन, प्रयोग एवम् अभ्यास के फलस्वरूप ही तृतीय अवस्था में, उपलब्धि होती है। ऐसे विकासात्मक अध्ययन में मात्र तात्विकता का वर्णन बोधगम्य न होने के कारण (अनुमान करने योग्य स्वीकृति न होने के कारण) तर्क की सहायता आवश्यक है। यहाँ तर्क की आवश्यकता इसीलिये प्रतीत होती है और नियोजित की गई है कि वांछित (प्रयोग पूर्वक जिसे सिद्ध करना है)

की कल्पना पहले से साधक में (जिसे प्राप्त करना है) पूर्वाभास के रूप में प्रतिष्ठित करना है।

★ इसके पूर्व में पाँच वर्ग के मनुष्यों का नाम, उनकी दृष्टि, विषय तथा स्वभाव तथा तत्सम्बन्धी उनमें पाई जाने वाली उपभोग प्रवृत्तियों की सीमा एवम् स्तर का, पूर्ण वर्णन द्वारा निर्देश किया जा चुका है।

★ इनमें दिव्य-मानव तक के अध्ययन का प्रयास बताया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि दिव्य मानव से भी विशेष, अति महत्वपूर्ण की अपेक्षा में ही अतिमानवीयता का अनुमान प्रयोग एवम् अनुमति की सम्भावना दिखाई पड़ती है।

★ अतः दिव्य मानव के विषय की ओर ध्यानाकर्षित करते हुए यह कहना उचित रहेगा कि उसका विषय शून्य (ईश्वर) है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी (ईश्वर की) अवस्थिति का अनुमान कैसे किया जाय।

★ दूसरे पक्ष से भी मनुष्य के स्वभाव और दृष्टि, दोनों का वर्गीकरण विषयोपभोग में जो प्रसक्तियाँ है उसके आधार पर ही किया गया है। अतः मनुष्य के विषयोपभोग के स्तर की पुष्टि के लिए ही दृष्टि एवम् स्वभाव का नियोजन हुआ है।

★ अस्तु, अब दिव्य मानव का जो विषय है वह मात्र ईश्वर ही है अर्थात ईश्वर से परिपूर्ण तृप्ति के योग्य अनुभूति उनमें स्वभाव सिद्ध हुआ है।

★ पुनः तृतीय पक्ष से पशु मानव में—राक्षस मानव में, तारतम्यात्मक ऋणात्मक अध्ययन करने पर यह सिद्ध होता है कि जिसने जिस विषय को अति प्रधान समझा है, उसी में उसकी दृष्टि व स्वभाव नियोजित है तथा ऐसा ही देखने में भी आता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि दिव्य मानव के द्वारा अनुमानित

अति महत्वपूर्ण विषय भी होना ही चाहिये और इसे ही ईश्वर की संज्ञा दी गई है।

× ईश्वर की महत्ता का अनुमान निम्नानुसार किया जाता है—

● १—ईश्वर सर्वत्र एक सा विद्यमान है।

★ चूंकि सभी स्थान में क्रिया की सम्भावना बनी हुई है। इससे ज्ञात होता है कि हर क्रिया के मूल में प्राप्त सत्ता हर स्थान में विद्यमान है। इसीलिए दिव्य मानव से भी अनन्तान्त विकसित की स्वीकृति सिद्ध होती है।

● २—ईश्वर सर्वत्र एक सा भासमान है।

★ इस पृथ्वी पर कहीं भी अर्थात किसी स्थान पर भी स्थित मनुष्य यदि दिव्य मानवीयता से सम्पन्न हो जाते हैं, उस स्थिति में उन सब की एक ही अनुभूति होती है और वह मनुष्य अविकसित मनुष्य के लिए समान रूप से प्रेरणा के श्रोत होते हैं।

● ३—ईश्वर सर्वत्र एक सा बोधगम्य है।

★ जितने भी दिव्य-मानव कोटि के लिए प्रयोग एवम् प्रयासरत है, वह ऐसे प्रयोग और प्रयास में रत होते समय दिव्य-मानव से उसे (ईश्वर) महान स्वीकार कर चुके हैं तथा उनकी ऐसी महानता को स्वीकारने में उन दिव्य-मानव कोटि के प्रत्याशुओं के मध्य में कोई वाद-विवाद नहीं है।

★ उपरोक्त समस्त विश्लेषण से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि मानवीयता तथा इससे अविकसित की पहचान क्रिया से ही है और देव-मानवीयता तथा दिव्य—मानवीयता को अनुभूति में पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जितनी भी अभिव्यक्तियाँ है वह विशुद्ध मानवीयता पूर्ण क्रिया के परिवेश सीमान्त तक ही दिखाई पड़ती है। क्रिया पक्ष की तात्विकता की उसी

सीमा तक प्रतीक्षा करें और देव मानवीयता और दिव्य-मानवीयता के लिए विचारपूर्वक, अनुमान सहित अनुभूति के लिये प्रतीक्षा करें।

★ जितना भी भौतिक क्रिया पक्ष है, उन सबसे भी अन्ततोगत्वा सुखानुभूति की ही अपेक्षा है जो एक बौद्धिक प्रक्रिया है। भौतिक क्रियाओं में अथवा भौतिकता में सुखानुभूति की योग्यता न रहने का फल ही है कि समस्त भौतिक क्रियायें बौद्धिकता से अविकसित सिद्ध है। यही कारण है कि मनुष्य ने अविकसित क्रिया अर्थात भौतिक क्रिया पक्ष की अपेक्षा बौद्धिक क्रिया से सुखानुभूति प्राप्त करने का प्रयास किया। चूँकि अकेले में कोई क्रिया सम्भव नहीं है, इसलिए विकसित से अर्थात् व्यापक अथवा ईश्वर से सुखानुभूति के लिए प्रयास, प्रयोग एवम् अभ्यास में मनुष्य प्रवृत्त हुआ।

★ ऊपर वर्णन किया ही जा चुका है कि सचेतन्य इकाई में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवम् आत्मा का अध्ययन है। मन, वृत्ति, चित्त एवम् बुद्धि रूपी चार परिवेशों की संरचना पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था की इकाईयों में समान है। इन चार परिवेशीय अंशों की सक्रियता से ही चारों अवस्थाओं का निर्णय होता है।

★ पदार्थावस्था में चतुर्थ परिवेशीय अंश अथवा सबसे बाहरी परिवेशीय अंश अपेक्षाकृत सक्रिय रहता है तथा इसी प्रकार क्रमानुसार प्राणावस्था में चतुर्थ एवम् तृतीय परिवेशीय अंश, जीवावस्था में चतुर्थ, तृतीय एवम् द्वितीय परिवेशीय अंश तथा ज्ञानावस्था में चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, और प्रथम परिवेशीय अंश सक्रिय होते हैं। प्राणावस्था में तृतीय परिवेशीय अंश, जीवावस्था में द्वितीय परिवेशीय अंश तथा ज्ञानावस्था में प्रथम परिवेशीय अंश सर्वाधिक सक्रिय होते हैं। सभी अवस्थाओं की मूल इकाई की संरचना समान होते हुए भी जो अवस्थाओं का भेद है

A11. मानव व्यवहार दर्शन 1978 -द्वितीय संस_c

वह भिन्न परिवेशों की अपेक्षाकृत सक्रियता के आश्रय में है। विकास का अर्थ है मध्यांश के आश्रित समस्त परिवेशों का पूर्ण सक्रिय हो जाना।

● प्रेरणा पाने वाला अंग हर परमाणु में निहित प्रत्येक परिवेशीय अंश में व्याप्त है।

● ज्ञानावस्था की चैतन्य इकाई का जड़ शरीर, प्रत्याशा के फल को ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धेन्द्रियों द्वारा पाये जाने वाली प्रवृत्तियों में से, पुष्टि-पक्ष को ग्रहण करता है।

● इन प्रवृत्तियों में जो कला-पक्ष और ज्ञान पक्ष है उसका आस्वादन सुख के रूप में मेधस द्वारा चैतन्य पक्ष ही करता है।

● चैतन्य पक्ष के परिणाम का जो कारण है उसे संस्कार की संज्ञा है।

● जड़ पक्ष के परिणाम का जो कारण है उसे अभ्यास या वंशानुक्रम संज्ञा है।

✣ संस्कार—मनुष्य का प्रारब्ध ही संस्कार है।

✣ प्रारब्ध—जो जितना जान पाता है, उतना चाह नहीं पाता, जितना चाह पाता है, उतना कर नहीं पाता, जितना कर पाता है, उतना भोग नहीं पाता, जितना भोगा नहीं जाता उसे प्रारब्ध की संज्ञा है।

★ पूर्व में बता चुके हैं कि पदार्थावस्था में अन्नमय कोष एवम् प्राणमय कोष दोनों समाहित रहते हैं। अन्नमय कोष की क्रिया का निर्देश प्रत्येक परमाणु के चतुर्थ परिवेशीय अंश की सापेक्षिक सक्रियता से होता है तथा इस क्रिया का प्रयोजन अन्नमय कोष में ग्रहण एवम् विसर्जन की अग्रिम क्रिया है। हर पदार्थात्मा के परमाणु के चतुर्थ परिवेश के आश्रय में कण स्थित है। चतुर्थ परिवेशीय अंश के आश्रित कणों की संख्या घटती एवम् बढ़ती है। अन्नमय कोष की क्रिया के सन्दर्भ में कणों के बढ़ने की प्रक्रिया ग्रहण तथा घटने की क्रिया विसर्जन है।

★ मनोमय कोष की क्रिया का निर्देश प्रत्येक परमाणु के तृतीय परिवेशीय अंश की चतुर्थ परिवेशीय अंश की अपेक्षाकृत अधिक सापेक्षिक सक्रियता से है। तृतीय परिवेशीय अंश की इस सक्रियता का प्रयोजन-चयन, अग्रिम क्रिया है। उपरोक्तानुसार, तृतीय परिवेशीय अंश में भी कणों के घटने एवम् बढ़ने की क्रिया होती है। प्रथम वैविध्यता अन्नमय कोष के तथा द्वितीय वैविध्यता मनोमय कोष के सापेक्षिक सक्रियता के कारण हुई, एवं तत्काल परमाणु में वर्तुलात्मक गति के साथ कम्पनात्मक गति की भी वृद्धि हुई। फलस्वरूप संकोचन एवम् प्रसारण क्रिया सिद्ध हुई। इन दोनों क्रियाओं से ही शोषण एवं पोषण क्रिया की उपलब्धि हुई। ग्रहण एवम् विसर्जन क्रिया तो पूर्व से थी ही।

× द्वितीय परिवेशीय अंश आनन्दमय कोष है। आनन्दमय कोष की क्रिया का निर्देश द्वितीय परिवेशीय अंश की सापेक्षिक सक्रियता से है तथा इसका प्रयोजन सुख, शान्ति एवम् सन्तोष की अनुभूति है। द्वितीय परिवेशीय के सापेक्षिक सक्रियता से, जो इस परिवेश के अंश में कणों के घटने एवम् बढ़ने के कारण होता है—परमाणु की संकोचन एवम् प्रसारण क्रिया में वृद्धि होती है। द्वितीय परिवेशीय अंश में सापेक्षिक सक्रियता आते ही यह परमाणु तत्काल समूह से मुक्त हो जाता है तथा आशा से युक्त हो जाता है। समूह से अलग होने का फल ही है कि परमाणु अपनी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई से अधिक विस्तार में कार्य करने में सक्षम होता है। अपने आकार से अधिक विस्तार में कार्य करने हेतु सक्षमता प्राप्त करने का कारण संकोचन एवम् प्रसारण क्रिया में वृद्धि का होना है। संकोचन एवम् प्रसारण क्रिया बढ़ने से जो कम्पनात्मक गति की वृद्धि है उसका माप उस इकाई में प्रादुर्भूत आशा की गति से की जाती है। हर जीव स्थूल शरीरधारी होने के कारण, शरीर द्वारा ही आशा की

उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील है तथा इसी हेतु वह समूह से पृथक होता है।

● चैतन्य एवम् जड़ का योग—जड़ क्रियाओं में पाए गये क्षोभ का ही परिणाम चैतन्य इकाई है क्योंकि श्रम का क्षोभ ही विकास के लिये कारण है जिसके फलस्वरूप ही विश्राम की तृषा है।

★ उपरोक्त सम्बन्ध में अर्थात जड़ इकाई ही विकास के क्रम में चैतन्यता प्राप्त करती है, कौतूहल उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में दर्शन निम्न प्रकार से होता है—

● जो चैतन्य है वह पहले जड़ था, चैतन्य में जो कुछ भी अभ्यास की रेखाएँ हैं वह अंकित हैं ही। यही कारण है कि चैतन्य इकाई अग्रिम विकास चाहती है। हर विकसित इकाई ने अविकसित इकाई का स्व-विकास के लिए उपयोग किया है। विकास के मूल में, हर इकाई के हर स्तर में, अपने शक्ति का अन्तर्नियोजन आवश्यक है, क्योंकि इकाई का ऊर्जा के बहिर्गमन होने पर ह्रास परिलक्षित होता है तथा ऊर्जा के अन्तर्निहित होने पर विकास परिलक्षित होता है। बाह्य शक्तियों से क्षुब्ध होने पर शक्तियों का बहिर्गमन होता है। इससे अपने को पता लगता है कि अन्तर्नियोजन से विकास होता है।

★ प्राणावस्था में अवस्थित इकाईयों की प्राणी संज्ञा है। प्राणावस्था की इकाईयों की संरचना पदार्थावस्था के वस्तुओं से ही है। प्राणी अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए रचनाएँ आरम्भ करते हैं। अनिश्चित प्रयास की रचना किसी एक निश्चित अवधि तक ही पहुँचती है, जिसे हम झाड़ पौधों के रूप में देखते हैं। अब इनकी बीजावस्था आती है। अस्तित्व को बचाए रखने के क्रम के प्रयास में ही प्राणावस्था में बीजों का निर्माण हुआ। बीज में वह समस्त प्राणी समा जाते हैं अर्थात स्थूल इकाई की रचना हेतु जितने भी वर्ग की क्रियाएँ प्रयोजित होती हैं, उन सबको करने वाले विशेष वर्ग के प्राणी होते हैं। यह विशेष वर्ग के प्राणी जब एकत्र हो जाते हैं तो उसे बीज कहते हैं। फलस्वरूप ही बीज में

पूरे वृक्ष का आकार धारित किये हुए प्राणी अवस्थित रहते हैं। इसीलिए बीज पुनः उसी प्रकार की संरचना करने में समर्थ होते हैं।

✱✱ वनस्पतियों की जातियों की उत्पत्ति का कारण नैसर्गिक दबाव, आक्रमण, संक्रमण और संग्रहण प्रतिक्रिया के भेद से ही है।

● यह शरीर रचना की निपुणता सूक्ष्म प्राणियों द्वारा ही प्राणावस्था से लेकर ज्ञानावस्था तक सम्पन्न होती है तथा समान होती है। साथ ही प्राणावस्था की शरीर रचना में कुशलता के जितने भी वर्ग है, उससे अधिक जीवावस्था में और इससे अधिक ज्ञानावस्था में है, क्योंकि शरीर रचना में जो मौलिक विकास हुआ है उतने ही पक्ष की कुशलता इन प्राणियों में समाविष्ट हो चुकी है। सर्वोच्च विकसित प्राणी 'मेधस' ही है।

★ शरीर रचना के सम्बन्ध में वंश को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बीज संयोजन क्रिया प्राणावस्था, जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था के समान है। शरीर के सम्बन्ध में, बीज संयोजन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक साम्यता पाते हुए हम इस प्राणावस्था की इकाई की स्थिति एवम् व्यवहार, जीवावस्था की स्थिति एवम् व्यवहार तथा ज्ञानावस्था की स्थिति एवम् व्यवहार में मौलिक अन्तर पाते हैं। वैविध्यता तो है ही।

★ प्राणावस्था, जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था की इकाईयों की स्थिति एवम् व्यवहार का मौलिक अन्तर निम्न प्रकार से परिलक्षित होता है—

× चैतन्य इकाई की अवस्थिति इसी जड़ जगत की क्रिया, प्रक्रिया एवम् परिणामपूर्वक पाई जाने वाली एक उपलब्धि है उसमें, उससे पीछे की दो अवस्थाओं का जितना भी क्रिया कलाप है, वह एक ही परमाणु के अन्तर्गत समाविष्ट होकर संस्कार का रूप धारण करता है। चैतन्य इकाई में वैविध्यता को पाने हेतु प्राप्त की हुई सामग्री की

संस्कार संज्ञा है। यह संस्कार ही चैतन्य इकाई के लिये उत्पादन एवम् संग्रह का कारण बन जाता है। तात्पर्य यह है कि अन्य परमाणुओं के संग्रह के बिना ही अपना संस्कार बीज सुरक्षित करता और रखता है। यह बीज ही आशा, विचार, इच्छा एवम् संकल्प के रूप में मनुष्य के द्वारा आवश्यकता एवं अवसर के अनुसार अभिव्यक्त होता है, जिसमें से कुछ अंश व्यवहार रूप को प्रदान करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि चैतन्य इकाई की रचनाएँ केवल आशा, विचार, इच्छा एवम् संकल्प का रूप ही हैं। उसी रूप की रचना की निपुणता में जो प्रतिक्रिया है वह स्वयम् में उन्हीं आशाओं, विचारों, इच्छाओं और संकल्पों का बीज रूप है, जो पुनः फैलता है तथा पुनः बीज रूप में बनता है। जब तक ऐसे फैलने के लिये आवश्यकता प्रतीत होती है तब तक अपना संस्कार बीज को बनाने में अक्षुण्णतःरत रहता है। वह तब तक जड़ पक्ष के मूल्यांकन से मुक्त नहीं हो सकता है जब तक अपने में निर्भ्रमता को सम्पन्न करने योग्य क्षमता, योग्यता और पात्रता को सिद्ध नहीं कर लेता है। यह केवल विकास से ही सम्भव है। ऐसी क्षमता, योग्यता और पात्रता सिद्ध होने तक जड़ पक्ष पर अधिकार पाना स्वभाव सिद्ध हुआ। क्योंकि भौतिक मूल्यांकन उनके वांछितलक्ष्य की तुलना में अधिक दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप ही यह भौतिक शरीर का स्वामी बन कर इस शरीर द्वारा अपनी आशा, विचार, इच्छा एवम् संकल्प को केवल सुख की प्रत्याशा में ही फैलाता है और शरीर द्वारा कुछ करता है। ऐसे शरीर से की जाने वाली प्रक्रिया को प्रयोग, व्यवसाय, उत्पादन, वितरण, उपयोग और उपभोग के रूप में सम्पन्न किया जा रहा है। ऐसे चैतन्य इकाई (मनुष्य के संदर्भ में) के लिये इससे तीनों अविकसित अवस्थाएँ उपादान स्वरूप हैं। चैतन्य इकाई अपने विचार आदि का फैलाव और प्रभाव इन्हीं अवस्थाओं की इकाईयों पर आजमाती है जिससे उपरिवर्णित क्रिया

चक्र बनता है जिससे ही जड़ शरीर के लिये वंशानुषंगिक रचना प्रक्रिया में पाई जाने वाली वैविध्यता की संख्या वृद्धि हुई, जैसे—

× १—एक मनुष्य कुछ समय तक उदार-चित्त रहता है परन्तु कुछ काल के पश्चात तत्काल उसके विपरीत कृपण हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न दिशाओं में विपरीत कार्य सम्पन्न किया जाता हुआ मनुष्य-जीवन परिलक्षित होता है। मनुष्य का इन्हीं साविपरीत क्रियाओं में ही अपने संस्कारों का प्रतिदर्शन करना सिद्ध हुआ है।

× २—एक व्यक्ति अत्यन्त मूर्ख है या अविकसित है। दूसरी विकसित इकाई के सम्पर्क में आकर उसमें विकास के लिए तृषा उत्पन्न होती है तथा उनमें विकास प्रारम्भ होता है। यह वातावरण के दबाव वश पाई जाने वाली विकास प्रक्रिया है। इसके विलोम में ह्रास प्रक्रिया भी इसी अनुसार पाई जाती है अर्थात मनुष्य तथा दूसरे मनुष्य के संस्कारों से ही सम्बन्धित प्रभाव से तथा स्वसंस्कार से संयुक्त होकर और वातावरण की उपादेयता को पाकर ही ह्रास एवम् विकास की प्रक्रिया मनुष्य में सम्पन्न हो रही है।

● संस्कार के दो भेद हैं—सुसंस्कार और कुसंस्कार।

:: सुसंस्कार— विकास योग्य प्रवृत्तियाँ जो मनुष्य द्वारा व्यवहृत हैं तथा विचार रूप में अवस्थित हैं, सुसंस्कार हैं।

:: कुसंस्कार—विकास की ओर गति को कुण्ठित करने वाली प्रवृत्तियाँ जो मनुष्य द्वारा व्यवहृत हैं तथा विचार रूप में अवस्थित हैं अर्थात ह्रास की ओर गति योग्य प्रवृत्तियाँ एवम् विचार कुसंस्कार हैं।

× समस्त संस्कार अन्ततोगत्वा प्रवृत्तियाँ एवम्

A11. मानव व्यवहार दर्शन 1978 -द्वितीय संस_c

इच्छा के रूप में परिवर्तित होकर पुनः समय, स्थान एवम् अवसर पाकर कार्य क्रिया एवम् अनुभूति के रूप में अवतरित होते हैं ।

× मानव ने जड़, चैतन्य एवम् व्यापक के सम्बन्ध में अपने महत्व को पहचानने का प्रयास किया है । व्यापक सत्ता अथवा ज्ञान की अनुभूति के बिना पूर्ण विवेक एवम् विज्ञान का उदय नहीं होता । पूर्ण विवेक एवम् विज्ञान के अभाव में सामाजिकता के संरक्षण और सम्वर्धन हेतु समुचित विधि का निश्चय तथा व्यवस्था की स्थापना सम्भव नहीं है । समुचित विधि एवम् व्यवस्था के अभाव में मानव द्वारा मानव का शोषण होता है ।

● "पूर्ण विवेक एवम् विज्ञान के उदय के अभाव के कारण जो जैसा है, उसे वैसा समझने में मानव असमर्थ होता है ।"

× सर्वप्रथम मानव अपने को ही समझना चाहता है, पर उपरोक्त वर्णित असमर्थता के कारण अपना ही सही सही मूल्यांकन नहीं कर पाता । इसी स्थिति को, पूर्व में, भ्रान्ताभ्रान्त तथा भ्रान्ति की स्थिति के नाम से परिचित कराया गया है । शोषण क्रिया इसी भ्रान्ति की स्थिति का परिणाम है ।

× अतः विकास की ओर प्रवृत्त होने के लिए एक मानव की सार्थक प्रयुक्ति यही है कि वह अपने से विकसित इकाई के निर्देश, आदेश एवम् सन्देश की ओर अपनी ग्रहण शीलता को अभिमुख बनाए रखे । केवल इसी प्रक्रिया से मानव सृष्टि में अपने महत्व को जानने व पहचानने में सफल हो सकेगा ।

● अपने महत्व को जानने व पहचानने पर ही विश्राम की उपलब्धि सम्भव है ।

卐 पांच

● अशेष मानव विश्राम की आशा एवम् प्रतीक्षा में है ।

● समाधान की ओर विश्राम का तथा समस्या की ओर श्रम का अनुभव है ।

× समाधान एवम् समस्या मनुष्य के लिये बौद्धिक एवम् भौतिक भेद से है ।

● भौतिकता में उपलब्धि ही समाधान अन्यथा समस्या है ।

● बौद्धिकता में अनुभूति ही समाधान अन्यथा समस्या है ।

★ बौद्धिकता में अनुभूति का अर्थ है सत्य का अनुभव तथा इसके सहायक पक्ष को समाधान और इसमें व्यवधान पक्ष को समस्या की संज्ञा है ।

★ अनुभूति तथा उपलब्धि दोनों क्रियाएँ हैं । क्रियाएँ परिवर्तनशील होने के कारण सामयिक है, तदनुसार समस्त क्रियाओं का मूल्यांकन भी सामयिक है । किसी भी क्रिया को उसी प्रकार, उसकी समयावधि में, जानने, पहचानने, प्रयोग, उपयोग तथा उपभोग करने में सफलता अथवा असफलता इकाई के निर्वाह योग्य क्षमता, पात्रता तथा योग्यता पर निर्भर करती है ।

● सफलता केवल निर्भ्रम अथवा निर्भ्रान्त अवस्था में ही है ।

★ ज्ञानावस्था की इकाई (मानव) ही निर्भ्रान्त अवस्था की निकटवर्ती है । अन्य अवस्थाएँ क्रम से दूर हैं यथा जीवावस्था, प्राणावस्था तथा पदार्थावस्था । अतः यह सिद्ध होता है कि सर्वोच्च विकास भ्रमहीनता अथवा निर्भ्रान्त स्थिति की उपलब्धि है, जिससे ही अनुभूति होती है ।

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)
www.madhyasth.org

● जो जैसा है उसको वैसा जानना एवम् पहचानना ही निर्भ्रान्त स्थिति की उपलब्धि है अथवा निर्भ्रमता की स्थिति है।

★ जो शब्द के द्वारा अवसर तथा आवश्यकतानुसार रूप, गुण, स्वभाव एवम् धर्म को निर्दिष्ट करती हो। जो जैसा है उसको वैसा जानना ही सत्य है; इसकी मात्र अनुभूति होती है। सत्य व्यापक है। अतः सत्यता का ही—वस्तुस्थिति का ही अध्ययन है और इसी की उपलब्धि भी है। उपलब्धि मात्र क्रिया की ही होती है। सत्यता क्रिया का स्वरूप है। अतः सत्यता की उपलब्धि तथा सत्य की अनुभूति होती है।

● सत्यता का अध्ययन पूर्ण हो जाना ही निर्भ्रमता है।

● सत्यानुभूति के लिए भ्रम का निवारण परमावश्यक है, जो मानवीयता-पूर्ण जीवन से ही चरितार्थ हुआ है।

● निर्भ्रमता के लिए विवेक एवम् विज्ञान का अध्ययन व कर्माभ्यास आवश्यक है। इसके द्वारा किये गये अनुभव, विचार तथा व्यवहार के समन्वय से ही क्रमशः आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा भौतिक स्तर में अनुभूतियाँ एवम् उपलब्धियाँ हैं।

● अनुभव मात्र सत्य का ही है क्योंकि वह अपरिवर्तनीय है, अनुभव यदि परिवर्तनशील हो तो वह अनुभव नहीं है जैसे गणित के आधार पर किसी भी प्रश्न का हल एक निश्चित उत्तर ही होता है।

● क्रिया परिणामी है, अतः सामयिक सिद्ध है। समस्त क्रियाएँ नियमों से अनुशासित तथा संरक्षित परिलक्षित होती है। नियम परिवर्तनशील नहीं है, इसलिए नियम सत्य एवम् नित्य सिद्ध है।

● सत्य-बोध से बौद्धिक समाधान तथा असत्य-बोध से बौद्धिक समस्याएँ हैं। नियम बोध के बिना सत्य बोध सम्भव नहीं है।

● सत्यबोध के बिना सत्यानुभूति सम्भव नहीं है।

:: बोध—सत्य की अनुभूति आत्मा को पूरी की पूरी होती है, ऐसी बुद्धि में जो आभास, (प्रतिबिम्ब न्याय से) होता है उसकी बोध संज्ञा है।

:: भास—सत्यता जब चित्त को प्रभावित करती है तब उसकी भास संज्ञा है।

:: अनुमान—वही सत्यता अर्थात भास जब वृत्ति को प्रभावित करती है तब उसकी अनुमान संज्ञा है।

● असत्यबोध जब तक है, तब तक ही बुद्धि की अहंकार संज्ञा है। अहंकार का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

● अहंकार एवम् असत्यबोध यह दोनों सत्यता के प्रति अनर्हता के द्योतक हैं।

● सत्य-बोध अध्ययन की अन्तिम उपलब्धि है तथा अनुभव का स्वभाव है।

● सत्यबोध के बिना सत्यानुभूति तथा सत्यानुभूति के बिना विश्राम नहीं है।

● सत्य, मात्र ज्ञान ही है। इसे ही शाश्वत सत्य की संज्ञा है। सामयिक सत्य, क्रिया परक है, जबकि शाश्वत् सत्य व्यापक सत्ता है।

● सत्यानुभूति से अतिसंतृप्ति (परमानन्द), सत्य बोध से तृप्ति (आनन्द एवम् समाधान), सत्यपूर्ण व्यवहार (मानवीयतापूर्ण व्यवहार) से एकसूत्रता (समाधान एवम् सहअस्तित्व) की अनुभूति और उपलब्धि है।

:: अतिसंतृप्ति या परमानन्द—आत्मा को जब ईश्वरानुभूति होती है, तब उसके नित्य प्रभाव को परमानन्द की संज्ञा है।

● जब एक बार आत्मा की क्षमता, योग्यता और पात्रता व्यापकता की अनुभूति करने योग्य सिद्ध हो जाती है, उसी समय से सत्य की अविरत अनुभूति बनी रहती है।

∷ आनन्द—सत्यानुभूत इकाई के बुद्धि पर जो प्रभाव है वह आप्लावन है, उसे आनन्द की संज्ञा है।

∷ चिदानन्द—सत्यानुभूत इकाई के चित्त पर जो प्रभाव है उसे आह्लाद या चिदानन्द की संज्ञा है।

∷ शान्ति—सत्यानुभूत आत्मा के वृत्ति पर जो प्रभाव पड़ता है उसे उत्साह या शान्ति की संज्ञा है।

∷ सुख—सत्यानुभूत आत्मा के मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसे उल्लास या सुख की संज्ञा है।

● मानव के लिये एकसूत्रता ही व्यावहारिक, समाधानकारक, सन्तुलनकारी तथा स्वर्गीय (सर्वोत्तम सुख) है।

∷ सन्तुलन—नैतिक एवम् व्यावहारिक दोनों पक्षों का अतिरेक न होने देना ही सन्तुलन है।

● न्याय, धर्म एवम् सत्यपूर्ण व्यवहार ही एकसूत्रता का सूत्र है।

● परधन, परनारी/पर-पुरुष, परपीड़ा से मुक्त व्यवहार तथा इसके बदले स्वधन, स्व-नारी/स्व-पुरुष तथा दया में जो निष्ठा है, वह समस्त व्यवहार एक से अनन्त तक न्यायपूर्ण व्यवहार है।

● जो आहार, विहार और व्यवहार (कायिक, वाचिक और मानसिक) संग्रह, द्वेष, अभिमान, अज्ञान एवम् भय से मुक्त हो तथा असंग्रह, स्नेह, सरलता, विद्या (विज्ञान एवम् विवेक) और निर्भयता युक्त हो वह ही न्याय और धर्म की एकसूत्रता है। अन्यथा में न्याय और धर्म की विश्रृंखलता है।

● दीनता, हीनता और क्रूरता से रहित तथा धीरता, वीरता, और उदारता सहित व्यवहार ही न्याय, धर्म तथा सत्य की एकसूत्रता है।

★ एकसूत्रता का अर्थ है परस्पर विकास के लिये पूरक तथा सहायक हो जाना।

★ उपरिवर्णित एकसूत्रता के अपेक्षाकृत अध्ययन के आधार पर मनुष्य अपने ह्रास एवम् विकास के कारण भ्रान्त, निर्भ्रान्त तथा भ्रान्ताभ्रान्त अवस्था में परिलक्षित है।

● निर्भ्रान्त मनुष्य से ही एकसूत्रता सफल है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि निर्भ्रान्त मनुष्य बनने तक सामाजिकता की परमावश्यकता है।

● विवेक एवम् विज्ञान के सन्तुलित अध्ययन तथा व्यवस्था के अभाव में मनुष्य में एकसूत्रता नहीं पाई जाती है।

∷ भौतिक अध्ययन को विज्ञान की संज्ञा एवम् बौद्धिक अध्ययन को विवेक की संज्ञा है।

● बौद्धिक अध्ययन के पूर्णता से ही व्यापकता का बोध है।

● भौतिक समृद्धि के लिए भौतिकीय अध्ययन एवम् कर्माभ्यास आवश्यक है, जो कि उपयोग और उपभोग दोनों में प्रयुक्त है। साथ ही समस्त अध्ययन, कर्म, आवश्यकता की पूर्ति हेतु उत्पादन, उपयोग, उपभोग की क्रियाएँ बुद्धि के अभाव में सिद्ध नहीं है। अतः हम बौद्धिक अध्ययन हेतु विवश हैं।

● बौद्धिकता के मूल में चैतन्य पक्ष का तथा चैतन्य पक्ष के मूल में ह्रास एवम् विकास का, ह्रास एवम् विकास के मूल में श्रम, गति व परिणाम का, श्रम, गति व परिणाम के मूल में इकाईत्व का, इकाईत्व के मूल में साम्य रूप से प्राप्त ज्ञान का और ज्ञान सत्ता को अनुभव करने वाली विश्रामस्थ इकाई का अध्ययन आवश्यक है।

● प्रत्येक अवस्था के परमाणु स्पन्दनशील है। इन सबको सम्यक रूप से प्राप्त सत्ता ज्ञान ही है।

● अनन्त इकाईयाँ ज्ञान से प्रेरणा पाते हुए तथा उसके अर्थात ज्ञान के अनुभव हेतु अर्हता के अभाव में ही उसके योग्य क्षमता, योग्यता तथा पात्रता के विकास के लिए श्रमशील है अथवा श्रम में व्यस्त है।

● ज्ञान की अनुभूति के बिना इकाईयों में विश्राम नहीं है, इसीलिये विकास का अभाव नहीं है क्योंकि श्रम का क्षोभ ही विश्राम की तृषा है।

● व्यवसाय, प्रयोग, व्यवहार, उपयोग व उपभोग की क्रिया, प्रक्रिया, पद्धति व उपलब्धियाँ प्रधानतः विज्ञान के अध्ययन पर निर्भर है।

● बुद्धि के प्रतिबोध क्रिया (चैतन्य) की बौद्धिकता संज्ञा है। प्रतिबोध क्रिया का माध्यम मेधस है, जो जड़ है।

● इकाई एवम् मनोवेग के बराबर में उपलब्धि चैतन्य है।

★ श्रम, गति एवम् परिणाम परस्पर निम्नानुसार परिलक्षित हैं—गति एवम् परिणाम के बराबर में उपलब्धि श्रम है। श्रम एवम् गति के बराबर में उपलब्धि परिणाम है। परिणाम एवम् श्रम के बराबर में उपलब्धि गति है।

★ पूर्व में वर्णन किया जा चुका है कि विकसित इकाई ने अविकसित इकाई पर अधिकार किया है। उसी के तारतम्य में यह परिलक्षित होता है कि ज्ञानावस्था की एक सामान्य इकाई ने जीवावस्था की अनेकानेक इकाईयों पर अधिकार पाया हुआ है। इसी क्रम में जीवावस्था की एक सामान्य इकाई ने प्राणावस्था की अनेकानेक तथा प्राणावस्था की एक सामान्य इकाई ने पदार्थावस्था की अनेकानेक इकाईयों पर अधिकार पाया हुआ है। विकास के क्रम में प्राप्त क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के आधार पर भी उक्त सिद्धान्त ही परिलक्षित होता है।

★ पदार्थावस्था की प्रत्येक इकाई परस्पर घर्षण में है। प्राणावस्था की प्रत्येक इकाई परस्पर घर्षण एवम् स्पन्दन में है। जीवावस्था की हर इकाई में परस्पर घर्षण एवम् स्पन्दन उसके जड़ शरीर में रहता ही है, साथ ही उसके चैतन्य पुंज में स्पन्दन, कम्पन एवम् आशा रहती है। ज्ञानावस्था की इकाई में जड़ शरीर पक्ष में घर्षण और स्पन्दन रहता ही है तथा चैतन्य पुंज में स्पन्दन,

कम्पन, आशा, स्फुरण, संवेग, विचार, इच्छा की क्रिया सम्पन्न होती रहती है।

★ ज्ञानावस्था की एक निभ्रान्त इकाई अनेक भ्रान्ताभ्रान्त तथा भ्रान्त इकाईयों के लिए आदर्श, अनुसरण योग्य तथा समाधान की ओर प्रेरक सिद्ध हुई है।

● पदार्थावस्था में अस्तित्व के लिये अन्तरंग एवम् बहिरंग में संघर्ष, प्राणावस्था में अस्तित्व एवम् पुष्टि सहित कुलीनता के लिये संघर्ष, जीवावस्था में अस्तित्व, पुष्टि तथा जीने की आशा सहित कुलीनतापूर्वक उपभोग के लिये संघर्ष और ज्ञानावस्था में अस्तित्व, पुष्टि, जीने की आशा सहित समाधान के लिये ही कुलीनतापूर्वक सामाजिकता के लिए उपयोग, उपभोग, प्रवृत्तिपूर्वक प्रयोग, व्यवसाय एवम् अध्ययन, उत्पादन और व्यवस्था की आकांक्षा के लिये संघर्ष है।

● संघर्ष के मूल में सिद्धान्त यह है कि 'मानव' सही में एक और गलती में अनेक है।

● यदि उपरोक्त सिद्धान्त हृदयंगम हो जाय तो विश्व में सामाजिकता के लिए उपयुक्त वातावरण स्वयमेव उपस्थित हो जाय।

● मनुष्य के लिए बौद्धिक समाधान लक्ष्य हैं और भौतिक समृद्धि इसके लिए साधन है, क्योंकि अविकसित विकसित के लिये साधन ही सिद्ध हुआ है साध्य नहीं।

● मनुष्य को पूर्ण सुखी (निर्भ्रम) होने तक दोनों अर्थात् बौद्धिक समाधान और भौतिक समृद्धि आवश्यक है।

● भौतिक समृद्धि 'उत्पादन अधिक तथा उपभोग कम' की नीति आचरित करने से ही सिद्ध होती है। पुनः उपभोग में सदुपयोगात्मक आचरण से ही विकास संभव हुआ है अन्यथा ह्रास अवश्यम्भावी है।

● बौद्धिक समाधान हेतु व्यावहारिक सुगमता, सामाजिकता और मानवीयता से सम्पन्न अध्ययन की व्यवस्था चाहिये।

∷ व्यावहारिक सुगमता—न्याय-सम्मत नीति सम्पन्न आचरण।

● बौद्धिक समाधान के लिए व्यावहारिक एकसूत्रता अनिवार्य है।

● वैचारिक एवम् व्यावहारिक सन्तुलन के लिए मानवीयता की सुरक्षा तथा संरक्षण की नीति एवम् रीति आवश्यक है।

★ मानवीयता की सुरक्षा में संस्कृति, सभ्यता, विधि (कानून) एवम् व्यवस्था चारों परस्पर पूरक तथ्य है। इन चारों पक्ष का अध्ययन पूर्ण हुए बिना मानवीयता का संरक्षण संभव नहीं है क्योंकि गलती एवम् अपराध के अभाव में अमानवीयता की स्थिति नहीं है—मानवीयता से पूर्ण होने के पूर्व मनुष्य अमानवीयता के स्तर में अवस्थित है ही।

★ मानवीयता का अध्ययन अपेक्षाकृत रीति से तीन प्रकार से वर्णित किया जा चुका है, वह है—मानवीय गुण, मानवीय दृष्टि एवम् मानवीय विषय। इनके स्थापन, पोषण एवम् वर्धन हेतु हमें प्रयास रत रहना ही होगा।

★ मानव समाज या व्यवस्था द्वारा, प्रत्येक सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह करते हुए, मानवीयता के संरक्षण के लिये किए गए समस्त अध्ययनात्मक प्रयास को 'संस्कृति' संज्ञा है तथा इसके आचरण, प्रचार और प्रदर्शन-पक्ष की 'सभ्यता' की संज्ञा है।

● संस्कृति का पोषण सभ्यता से, सभ्यता का पोषण विधि (कानून) से विधि का पोषण व्यवस्था से तथा व्यवस्था का पोषण संस्कृति से है, जो अन्योन्याश्रित है।

● मानव समाज के गठन का मूल उद्देश्य भय से रहित होना ही अथवा सुरक्षा की कामना है।

● मानव या मानव समाज के लिए समस्त भय के तीन ही कारण परिलक्षित होते हैं—

(१) प्राकृतिक भय, (२) पाशविक भय और
(३) मानव में निहित अमानवीयता का भय।

● विकास व ह्रास भेद से अवस्था, अवस्था भेद से आशा, आशा भेद से आकर्षण-प्रति आकर्षण, आकर्षण-प्रत्याकर्षण भेद से आसक्ति, आसक्ति भेद से विवशता विवशता भेद से संवेग, संवेग भेद से कर्म, कर्म भेद से फल, फल भेद से समस्या एवम् समाधान, समस्या एवम् समाधान भेद से ही ह्रास एवम् विकासवादी गतियाँ है जिससे मानवीयता, अमानवीयता एवम् अतिमानवीयता का प्रादुर्भाव हुआ है।

● मानव का विकास बौद्धिक समाधान एवम् भौतिक समृद्धि के लिए ही है।

● विवेकपूर्ण विचार एवम् व्यवहार से बौद्धिक समाधान तथा विज्ञानपूर्ण नियम सहित किये गये व्यवसाय एवम् प्रयोग से भौतिक समृद्धि है।

● बौद्धिक समाधान तथा भौतिक समृद्धि की पुष्टि के लिये स्थूल, सूक्ष्म एवम् कारण भेद से दर्शन है।

● शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवम् गन्ध की जानकारी को स्थूल जानकारी, मन, वृत्ति, चित्त, एवम् सापेक्ष-शक्तियों की जानकारी को सूक्ष्म जानकारी और निरपेक्ष शक्ति एवम् उसको अनुभव करने वाली आत्मा और बोध करने वाली बुद्धि की जानकारी को कारणात्मक जानकारी की संज्ञा है।

● सम्पूर्ण अभिव्यक्तियाँ मात्र क्रिया के रूप में ही है तथा समस्त क्रियाएँ रूप और शब्द के भेद से है। यह समस्त क्रियाएँ मानव में स्फुरण, प्रेरणा, क्रान्ति, संवेग, आवेग तथा प्रयोग के रूप में ही परिलक्षित है।

∷ स्फुरण—विकास की ओर प्राप्त प्रेरणा की स्फुरण संज्ञा है।

∷ प्रेरणा—मिलन के अनन्तर उभय सुकृति (विकास) की ओर गति की प्रेरणा संज्ञा है।

★ उभय-सुकृति—अधिमूल्यन एवम् दीर्घ-परिणाम या अपरिणाम।

❖ प्रतिक्रान्ति—मिलन के अनन्तर उभय विकृति (ह्रास) की ओर गति की प्रतिक्रान्ति संज्ञा है।

★ उभय-विकृति—अवमूल्यन एवम् परिणाम या शीघ्र परिणाम।

❖ संवेग—संयोग से प्राप्त वेग की संवेग संज्ञा है।

❖ आवेग—आवश्यकतानुसार प्राप्त वेग की आवेग संज्ञा है।

❖ प्रयोग—प्रयासपूर्वक प्राप्त वेग की प्रयोग संज्ञा है।

● क्रिया को निर्देश करने के लिये प्रयुक्त अक्षर या अक्षर समूह को शब्द, शब्द के अर्थ को व्यक्त करने हेतु प्रयुक्त शब्द या शब्द समूह को परिभाषा तथा परिभाषा की मौलिकता की 'भाव' संज्ञा है।

● शब्द केवल किसी क्रिया को धारण करता है, जबकि परिभाषा शब्द एवम् क्रिया की मौलिकता को धारण करती है, तत्पश्चात् भाषा का रूप धारण करती है।

● निश्चित क्रिया को निर्देश करने वाले शब्द की सार्थक और इसके विपरीत शब्द की निरर्थक संज्ञा है।

● मौलिकता का निर्णय रूप, गुण, स्वभाव तथा धर्म के निरीक्षण, परीक्षण तथा सर्वेक्षण से एवम् अध्ययन के द्वारा होता है।

● आकार, आयतन एवम् घनता से रूप का, सम, विषम और मध्यस्थ के भेद से गुण का, इकाई द्वारा गुण की उपयोगिता से स्वभाव का निर्णय होता है।

★ हर गुण की प्रयुक्ति केवल उद्भव, विभव या प्रलय में

ही है। अतः हर इकाई का स्वभाव उद्भव वादी, विभव वादी या प्रलयवादी स्वभाव के रूप में प्रस्तुत है। यह क्रिया विकास या ह्रास के ओर ही है।

● जो जिसकी धारणा है, वह उस इकाई का धर्म है। (पदार्थावस्था का धर्म अस्तित्व; प्राणावस्था का धर्म अस्तित्व सहित पुष्टि; जीवावस्था का धर्म अस्तित्व, पुष्टि सहित जीने की आशा और ज्ञानावस्था का धर्म अस्तित्व, पुष्टि, जीने की आशा सहित सुख है)।

● धारणा की अनुकूल चेष्टा को स्फुरण अथवा क्रांति तथा इसकी प्रतिकूल चेष्टा की प्रतिक्रान्ति संज्ञा है। स्फुरण से समाधान तथा प्रतिक्रान्ति से समस्या की उपलब्धि है।

● समाधान की ओर प्राप्त प्रेरणा की अनुकूल तथा समस्या की ओर प्राप्त विवशता की प्रतिकूल संज्ञा है।

● आत्मा की प्रेरणा से सम्पन्न संकल्प, इच्छा, आशा और विचार स्व-सापेक्ष हैं—जो स्फुरण है।

● चैतन्य पक्ष की एकसूत्रता के अभाव से उत्पन्न संकल्प, इच्छा, आशा एवम् विचार पर-सापेक्ष हैं, जो प्रतिक्रान्ति है।

● स्व-सापेक्षता में विश्राम तथा पर-सापेक्षता में (जड़-पक्ष के साथ आसक्ति में) श्रम का प्रसव है।

❖ श्रम—इकाई की आशा और उपलब्धि के बीच में ऋण—धनात्मक स्थितियाँ ही श्रम हैं।

★ हर श्रम में विचार निहित है। वह विचार श्रम के द्वारा उपलब्धि की मात्रा का निर्णय करता है या मात्रा की अपेक्षा करता है। विचार ही अधिक से अधिक पाने के लिए आशा या प्रत्याशा

रखता है तथा कार्य के लिए पूर्व धारणा बनाए रखता है, फलस्वरूप श्रम का नियोजन अपूर्ण रह जाता है। अतः नियोजन की प्रत्याशा का या पूर्व धारणा का जो अन्तर है वह ही श्रमका बोझ है या थकान है। यह दोनों ही पराभव या विवशता के रूप में परिलक्षित हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की असमर्थता एवम् अकुशलता ही अन्ततोगत्वा श्रम के रूप में सिद्ध है।

★ स्वधर्म ही स्व-सापेक्ष है। इसके विपरीत की परधर्म संज्ञा है, जैसे मनुष्य का धर्म अस्तित्व, पुष्टि, जीने की आशा सहित सुख है। विकसित इकाई में अविकसित इकाई के गुण, स्वभाव एवम् धर्म निहित रहते ही हैं। इसी कारण से मनुष्य में अस्तित्व, पुष्टि तथा जीने की आशा है ही—जो परधर्म है। इनके अतिरिक्त मनुष्य का स्वधर्म सुख ही है। तुलनात्मक अध्ययन करने पर पाया जाता है कि मनुष्य सुख की आशा में किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जीने की आशा, पुष्टि तथा शरीर धर्म को त्यागने को भी उद्यत हो जाता है।

● मनुष्य सुख धर्मी है।

● मनुष्य के लिए धर्म नीति एवम् व्यवहार नीति प्रसिद्ध है।

● मनुष्य द्वारा प्राप्त कर्तव्यों का, सुख के पोषणवादी रीति व नीति का पालन करना ही धर्म नीति है।

● मनुष्य द्वारा सामाजिक एवम् प्राकृतिक नियमों के अनुसार व्यवहार की पोषणवादी रीति तथा बौद्धिक नियमों के अनुसार विचार एवम् आचरण की 'व्यवहार नीति' संज्ञा है।

★ व्यावहारिकता में रीति का पालन होते तो देखा जाता है, पर नीति का पालन होते हुये भी और नहीं होते हुए भी पाया जाता है।

● नीतिपूर्ण विचार का अभाव ही शोषण का कारण है, जो अन्ततोगत्वा स्व-पर दुःख कारक होता है।

● परिवार, समाज तथा शासन दत्त भेद से कर्तव्य को स्वीकारने तथा इसे निष्ठा, नियम एवम् सत्यतापूर्वक पालन करने पर ही मानव में विशेष प्रतिभा का विकास हर स्तर पर है, अर्थात पारिवारिक, सामाजिक तथा शासनिक स्तर पर सफलताएँ हैं। इसके विपरीत स्थिति में प्राप्त प्रतिभा तथा सफलता भी निरस्त होती है।

● दूसरे का प्रभाव परस्परता की आवश्यकता तथा अवस्था पर निर्भर करता है। आवश्यकता तथा अवस्था का प्रादुर्भाव विकासानुसार है।

● पदार्थ का विकास एवम् उसकी अवस्था उस इकाई की गति, श्रम तथा परस्परता के दबाव पर निर्भर करती है, जिससे संगठन, विघटन तथा परिणाम होता है।

● संगठन विघटन भेद से रूप, रूप भेद से विकास, विकास भेद से क्षमता, क्षमता भेद से माध्यम, माध्यम भेद से अवस्था, अवस्था भेद से आवश्यकता, आवश्यकता भेद से चेष्टा, चेष्टा भेद से प्रगति, प्रगति भेद से परिणाम, परिणाम भेद से योग व वियोग और योग व वियोग भेद से ही संगठन एवम् विघटन है।

★ चार अवस्थाओं की सृष्टि का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। इसमें पदार्थावस्था का धर्म अस्तित्व तथा ज्ञानावस्था में सुख धर्म सिद्ध हुआ है। अस्तित्व का अभाव किसी भी काल में नहीं है, ऐसा परीक्षण, निरीक्षण तथा सर्वेक्षण से सिद्ध हो चुका है। अस्तित्व की कल्पना पदार्थ के अभाव में सिद्ध नहीं होती। साथ ही पदार्थ के ससीमित होने के कारण इसकी सर्वव्यापकता भी सिद्ध नहीं होती।

★ सुख एक वैचारिक तथ्य है। बुद्धि के अभाव में विचार तथा ज्ञान के अभाव में बुद्धि की क्रियाशीलता सिद्ध नहीं है। सुख,

सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट सृजन मनुष्य इकाई का धर्म है। जहाँ कहीं भी पदार्थ नहीं है, वहाँ उसको ले जाने पर, सुखधर्मिता का अभाव मानव में नहीं पाया गया। इसलिए सुख का आधार ज्ञान सार्वदेशिक सिद्ध हुआ क्योंकि जो जहाँ नहीं है, वहाँ उसकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार ज्ञान सर्व-व्यापक सिद्ध हुआ।

★ इस प्रकार अस्तित्व तथा ज्ञान दोनों का अभाव किसी काल में संभव नहीं पाया जाता है तथा ज्ञान का अभाव किसी भी देश व काल में भी नहीं पाया जाता।

● इस रीति से पदार्थ अनादि तथा ज्ञान व्यापक सिद्ध है।

× उपरोक्त संदर्भ में यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि पदार्थावस्था में संगठन और विघटन की जो प्रक्रिया पाई जा रही है, वह संकेत देती है कि समूह का होना, समूह की ओर पदार्थों का आकर्षित होना, उनका घनीभूत होना तथा आकर्षण का नियम सिद्ध है।

× ठीक इसी प्रकार प्राणावस्था में समूह के साथ-साथ सम्पत्तिकरण प्रक्रिया भी परिलक्षित हो रही है, यथा—एक प्राणी अनेकानेक खनिज-द्रव्यों को एकत्रित कर देता है और साथ ही उनमें रचना भी सिद्ध कर देता है। इससे हमें यह प्रेरणा मिलती है कि अस्तित्व के लिए हर प्राणी अपने ढंग से रचना एवम् संग्रह में व्यस्त है तथा उसमें कुलीनता के प्रति तीव्र निष्ठा या अक्षुण्ण निष्ठा भी सिद्ध होती है।

× अनन्तर जैसे ही विकास कर इकाई चैतन्यता (जीवावस्था) को प्राप्त होती है, वह समूह बन्धन से मुक्त हो जाती है पर तत्काल ही आशा के बन्धन से युक्त हो जाती है। यह आशा मात्र जीने की ही रहती है। सामूहिकता से मुक्ति तो हो जाती है, पर इस अवस्था में

उनमें सामाजिकता का प्रारम्भिक आशय उनके क्रिया-कलापों में—जो उनके रहन सहन, आहार-विहारादि एवम् किसी भी भय के उत्पन्न होने पर उनके द्वारा इस पर सामूहिक प्रहार एवम् प्रयास द्वारा व्यक्त होता है-परिलक्षित होने लगता है, जो प्राणावस्था से विशिष्ट है।

× इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान में मनुष्य जिस सामाजिकता को पाना चाहता है, उसके मूल में भी भय है ही। इसकी निवारण प्रक्रिया या आशय या प्रवृत्ति समूचे जीवों में भी प्रत्यक्ष है। साथ ही उनमें जो भोग पक्ष है वह भी मूल रूप से मनुष्य के भोग पक्ष से मेल खाता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य पशु-पक्षियों से अतिरिक्त गुणों एवम् स्वभावों के उपार्जन से अपनी मौलिकता सिद्ध करता है। इसी परिप्रेक्ष्य में योजना एवम् प्रक्रिया पूर्वक केवल मानवीयता, अतिमानवीयता और अमानवीयता का ही रेखाकरण सिद्ध होता है। इसके आधार पर ही सामाजिकता के हर आयामों का अध्ययन है।

× इस प्रकार हम समूचे मनुष्य जन जाति को एक जगह में पाने की तथा एक जगह में होने की इच्छा के मूल कारण में उसका 'सुखधर्मी' होना पाते हैं।

× हम सब सुख के लिये प्रत्याशी हैं। सुख के लिये प्रयास कर रहे हैं। हम सब सुख का अनुभव करना चाहते हैं। इसी केन्द्र बिन्दु के आधार पर हम सब पक्षों के अध्ययन, नीति एवम् व्यवहार को रूप देने का प्रयास करेंगे, जिससे अपनी निष्ठा का परिचय भी हो।

卐 छः

● सम्पूर्ण व्यवहार से मानव ने सुख की कामना की है।

● मानवीयता के सुख एवम् सदुपयोगिता को सिद्ध कराने वाली व्यवस्था एवम् व्यवहार का समर्थन तथा अनुसरण ही सुखी होने का एकमात्र साधन है।

● प्रत्येक कर्म में कर्ता, कार्य, कारण, प्रभाव और फल निहित हैं। क्योंकि कर्ता के बिना कार्य, कार्य के बिना कारण, कारण के बिना प्रभाव, प्रभाव के बिना फल, फल के बिना आवश्यकता तथा आवश्यकता के बिना कर्ता का पद सिद्ध नहीं है।

∷ कर्ता—जिस कार्य में जितना विचार पक्ष का नियोजन है, वह विचारपक्ष ही उस कार्य के कर्ता पद को प्राप्त करता है।

∷ कार्य—विचार पक्ष के आकार का अनुकरण करने के लिये जड़ पक्ष के योगदान (अनुसरण) की कार्य संज्ञा है।

∷ कारण—प्रत्येक सूक्ष्म क्रिया अर्थात् विचार के उद्गम के लिये जो प्रमुख स्पन्दन है, अथवा, क्रिया की पृष्ठभूमि की कारण संज्ञा है, जिसको संस्कार की संज्ञा से भी जाना जाता है।

∷ प्रभाव—क्रिया के प्रतिक्रिया की प्रभाव संज्ञा है।

∷ फल—क्रिया प्रतिक्रिया के अन्तिम परिणाम की फल संज्ञा है।

∷ आवश्यकता—सम्पर्क एवम् सम्बन्ध के निर्वाह हेतु एवम् उपभोग के लिये जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनकी आवश्यकता संज्ञा है।

● कर्ता द्वारा कार्य का सम्पादन आवश्यकता की पूर्ति हेतु अथवा कर्तव्य के पालन हेतु किया जाता है।

● कार्य ह्रास की ओर अथवा विकास की ओर ही है।

● कारण (क्रिया की पृष्ठभूमि) स्फुरण अथवा प्रेरणा भेद से है, जो संस्कार का रूप है।

● प्रभाव सम, विषम तथा मध्यस्थ तीन ही प्रकार के हैं, जो क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में परिलक्षित होते हैं।

● फल के दो भेद हैं—पूर्ण फल और न्यून फल। प्रत्येक क्रिया किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही सम्पन्न की जाती है। क्रिया की प्रतिक्रिया के अन्तिम परिणाम में आशय की पूर्ति होने पर पूर्ण फल तथा अपूर्ति होने पर न्यून फल की संज्ञा है।

● साधक, साध्य तथा साधन समुच्चय की औचित्यता समन्वित होने पर पूर्ण फल होता है।

● मानव द्वारा मानवीयता के प्रति कर्तव्य-बुद्धि को अपनाये बिना विकास, विकास के बिना समृद्धि, समृद्धि के बिना समत्व, समत्व के बिना पूर्ण फल, पूर्ण फल के बिना स्फुरण या प्रेरणा और स्फुरण या प्रेरणा के बिना कर्तव्य बुद्धि प्राप्त नहीं होती है।

● मानवीयतापूर्ण बुद्धि द्वारा निश्चित कर्तव्य के परिपालन से मनुष्य सफल एवम् सुखी हुआ है।

∷ कारण—चेष्टा को आशा, विचार, इच्छा व संकल्प पूर्वक कार्य चेष्टा में प्रवृत्त करने हेतु प्राप्त पृष्ठभूमि की कारण संज्ञा है।

∷ प्रभाव—वातावरण, अध्ययन एवम् अभ्यास पूर्ण संस्कार ही प्रभाव है।

∷ फल—संस्कार का प्रभाव ही फल है।

● मनुष्य में अभ्यास से वंशानुषंगिक जड़ शरीरगत संरचना तथा रोग की उपलब्धि है तथा चैतन्यपक्ष में संस्कार की मन, वृत्ति, चित्त एवम् बुद्धि के ह्रास और विकास के रूप में उपलब्धि है, जो मानवीयता, अमानवीयता और अतिमानवीयता के रूप में परिलक्षित होती है।

———

www.madhyasth.org

卐 सात

● व्यवहार के लौकिक एवम् पारलौकिक दो भेद हैं।

● लौकिक व्यवहार-ईषणात्रय एवं विषय चतुष्टय लौकिक व्यवहार हैं।

⁑ ईषणात्रय-पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा।

⁑ विषय चतुष्टय—आहार, निद्रा, भय और मैथुन।

● पारलौकिक व्यवहार—ईश्वर एवम् आत्मा की ओर अभिमुख व्यवहार की पारलौकिक संज्ञा है।

● जो जिसका लक्ष्य है, वह उसको पाने के लिए प्रयासरत है।

● लक्ष्य भेद से प्रयास, प्रयास भेद से प्रगति, प्रगति भेद से फल, फल भेद से प्रभाव, प्रभाव भेद से अनुभव, अनुभव से प्रतिभाव, प्रतिभाव भेद से स्वभाव, स्वभाव भेद से आसक्ति, आसक्ति भेद से भाव तथा भाव भेद से लक्ष्य भेद है।

⁑ लक्ष्य—जिसको पाना है, वह लक्ष्य है।

⁑ प्रयास—लक्ष्य की उपलब्धि के लिये यत्नपूर्वक किए गए कार्य की प्रयास संज्ञा है।

⁑ प्रगति—पूर्व से भिन्न क्रम गति को प्रगति की संज्ञा है।

⁑ फल—जिस अवधि के अनन्तर क्रिया प्रणाली बदलती है, उस अवधि को फल की संज्ञा है।

⁑ प्रभाव—बदलने के लिए जो विवशता है, उसको प्रभाव की संज्ञा है।

⁑ अनुभव—अनुक्रम से प्राप्त जानकारी अथवा जिसके आश्रित जो प्रभाव हो, वह उसका अनुभव है।

⁑ प्रतिभाव—अनुभव के अनन्तर जो पुनः प्रयासोदय है, उसे प्रतिभाव की संज्ञा है।

⁑ स्वभाव—प्रतिभाव से युक्त स्वमूल्यन की स्वभाव संज्ञा है।

⁑ आसक्ति—ह्रास की ओर किया गया गलत मूल्यांकन ही आसक्ति है।

⁑ भाव—मूल्यांकन एवम् मौलिकता की भाव संज्ञा है।

● लोक व लोकेश भेद से लक्ष्य, अन्तरंग एवम् बहिरंग भेद से यत्न, व्यष्टि एवम् समष्टि भेद से प्रयास, ह्रास एवम् विकास भेद से प्रगति, न्यून व पूर्ण भेद से फल, सम, विषम तथा मध्यस्थ भेद से प्रभाव, इन्द्रिय एवम् इन्द्रियातीत भेद से अनुभव, सहज एवम् असहज भेद से प्रतिभाव, विहित एवम् अविहित भेद से आसक्ति तथा उच्च और नीच भेद से भाव की स्थिति मानव में है।

● परिणामवादी लक्ष्य को लोक तथा उससे मुक्त को लोकेश, मन, वृत्ति, चित्त एवम् बुद्धि से किए गए कार्य को अन्तरंग तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेन्द्रियों द्वारा किए गए कार्य को बहिरंग, इकाईत्व को व्यष्टि तथा सम्पूर्ण को समष्टि, अवनति की ओर ह्रास तथा उन्नति की ओर विकास, जिस प्राप्ति से वांछित आशय की पूर्ति हो उसे पूर्णफल तथा अन्यथा में न्यून फल, उद्भव वादी प्रभाव को सम, विभववादी प्रभाव को मध्यस्थ तथा प्रलयवादी प्रभाव को विषम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेन्द्रियों द्वारा किए गए व्यवहार मात्र से प्राप्त जानकारी को इन्द्रियानुभव तथा मन, वृत्ति, चित्त तथा बुद्धि द्वारा प्राप्त जानकारी को अतीन्द्रियानुभव या इन्द्रियातीत अनुभव, यथार्थ की ओर जो प्रेरणा है उसे सहज प्रतिभाव तथा उसके विपरीत में असहज प्रतिभाव, न्याय, धर्म तथा सत्य के प्रति जो निष्ठा है उसे

विहित आसक्ति तथा उसके विपरीत में अविहित आसक्ति, समाधानवादी भाव को उच्च भाव तथा समस्यावादी भाव को नीच भाव की संज्ञा है।

● मन के कार्य की मनन, वृत्ति के कार्य की तुलन, चित्त के कार्य की चित्रण एवम् बुद्धि के कार्य की बोध संज्ञा है।

● अज्ञान के मूल में अहंकार (अबोधता) तथा ज्ञान के मूल में आत्मबोध तथा सत्यबोध को पाया गया है।

● स्फुरण, प्रेरणा तथा क्रान्ति के भेद से मनन, सन्तुलन अथवा असन्तुलन के भेद से तुलन, अर्थपूर्ण आरोप के भेद से चित्रण तथा सत्य एवम् असत्य भेद से बोध कार्य हैं। (आत्मबोध के पहले असत्य बोध होता है)

● सन्तुलन पूर्वक (श्रेय) प्राप्त सम्वेग को स्फुरण एवं प्रेरणा और असन्तुलनपूर्वक (प्रेय) प्राप्त सम्वेग की प्रतिक्रान्ति संज्ञा है।

● न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य दृष्टिकोण से की गयी तुलना को सन्तुलित तथा प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ दृष्टिकोण से की गयी तुलना को असंतुलित वृत्ति की संज्ञा दी जाती है।

● न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य दृष्टिकोण से किए गए चित्रण को यथार्थ तथा प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ के दृष्टिकोण से किए गए चित्रण को अयथार्थ चित्रण की संज्ञा है।

● स्वस्वरूप (आत्मा) की साक्षी में किए गए बोध की सत्यबोध तथा इसके विरोध में किए गए बोध की असत्यबोध संज्ञा है। असत्यबोध की ही अहंकार संज्ञा है। जिस प्रकार असत्य का अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार अहंकार का भी अस्तित्व नहीं है।

● कर्तव्य–की ओर अप्रेषित संवेग को स्फुरण तथा प्रेरणा एवम् विवशता–पूर्वक प्राप्त बौद्धिक प्रयास एवम् शारीरिक चेष्टा को प्रतिक्रान्ति की संज्ञा है।

● समस्या रहित अथवा समस्या के समाधान का अनुभव करने को

संतुलन और समस्या सहित अथवा समस्या को उत्पन्न करने वाली क्रिया को प्रतिक्रान्ति या असंतुलन के नाम से अंकित किया गया है।

● समस्या बौद्धिक तथ्य है तथा विवशता भौतिक तथ्य है।

● सर्वांगीण दर्शन (वस्तुस्थिति का ज्ञान) को ही यथार्थ दर्शन की संज्ञा है और उसके विपरीत में आरोप की संज्ञा है।

● अपरिणामवादी सत्ता की पहिचान के साथ साथ की गई जानकारी को सत्यबोध और उसके विपरीत को असत्यबोध की संज्ञा है।

● तीव्र सम्वेग वह है जो क्रिया के रूप में अवतरित होता है।

● सम्वेग का दबाव, उसकी गति एवम् पिपासा का निर्धारण इच्छा तथा प्रयोजन से नियंत्रित है।

● मनुष्य की परस्परता में जो सम्पर्क एवम् सम्बन्ध है वह निर्वाह के लिए, विकास के लिए तथा भोग के लिए है। विकास के लिए जो सम्पर्क एवम् सम्बन्ध का प्रयास है, वह सामाजिकता के लिए है। निर्वाह के लिए जो सम्पर्क एवम् सम्बन्ध का प्रयास है, वह कर्तव्य पालन करते हुए वर्तमान को संतुलित रखने के लिए और भोगेच्छा से जो सम्पर्क एवम् सम्बन्ध का प्रयास है, वह मात्र इन्द्रिय लिप्सा एवम् शोषण के कारण है।

● विकास के लिये किये गये व्यवहार को पुरुषार्थ, निर्वाह के लिये किये गये प्रयास को कर्तव्य तथा भोग के लिये किये गये व्यवहार को विवशता के नाम से जाना गया है।

● कर्तव्य व आवश्यकता का भाव मनुष्य में है।

● कर्तव्य की पूर्ति है, आवश्यकता की पूर्ति नहीं है।

● कर्तव्य की पूर्ति इसलिये सम्भव है कि वह निश्चित व सीमित है।

● आवश्यकताओं की पूर्ति इसलिये सम्भव नहीं है कि वह अनिश्चित एवम् असीमित हैं।

● यही कारण है कि कर्तव्यवादी प्रगति शान्ति की ओर तथा आवश्यकतावादी प्रगति अशान्ति की ओर उन्मुख है।

● समस्त कर्तव्य सम्बन्ध एवम् सम्पर्क की सीमा तक ही हैं।

● सम्वेग से ही चयन क्रिया है, जो संग्रहवादी, पोषणवादी, दोहदवादी, त्यागवादी या शोषणवादी है। यह समस्त क्रियाएँ आशा की प्रक्रिया में हैं।

● कर्तव्य की पूर्ति के बिना मनुष्य का जीवन सफल नहीं है।

● भौतिक समृद्धि तथा बौद्धिक समाधान से परिपूर्ण जीवन ही सफल जीवन है।

● उत्पादन से कम उपभोग तथा सह-अस्तित्व ही भौतिक समृद्धि है तथा अस्तित्व एवम् निर्भ्रमता ही बौद्धिक समाधान है।

● विज्ञान एवम् विवेक का समन्वित अध्ययन तथा कर्माभ्यास ही निर्भ्रमता है।

● मानवीयतापूर्ण जीवन में आवश्यकताएं सीमित एवम् मर्यादित हो जाती हैं। अतिमानवीयतापूर्ण जीवन में तो आवश्यकताएँ और भी संयत हो जाती हैं।

● जो जितना भ्रम और भय का पात्र है, उसने साधनों को सुखी होने के लिये उतना ही महत्वपूर्ण समझा है। जैसे भय त्रस्त मनुष्य आयुध एवम् आश्रय पर, लोभ त्रस्त मनुष्य संग्रह पर, द्वेष त्रस्त मनुष्य नाश पर, अज्ञानी दूसरों को दोष देने पर, अभिमान त्रस्त दूसरों की उपेक्षा एवम् घृणा करने

पर ही सुखी होने का प्रयास करता है, जबकि स्व-पात्रता ही सुखी एवम् दुःखी होने का कारण है।

● वातावरण एवम् अध्ययन सुपात्र अथवा कुपात्र बनाने में सहायक हैं।

● मानवीयतापूर्ण व्यवहार, व्यवसाय, अध्ययन व नीति पारंगत होने पर ही मनुष्य सुखी होता है।

卐 आठ

● पद एवम् पदातीत के भेद से अर्थ है ।

● पदों का वर्गीकरण, अपेक्षाकृत ढंग से, रूप-गुणों की अवस्था एवम् अनुपात के अध्ययन से सिद्ध है, इसीलिए पद अनेक और पदातीत एक है ।

● पद का निर्णय रूप के अनुपात, उसकी अवस्था (स्वभाव) तथा उसमें निहित शक्ति से होता है ।

● जो किसी पद में नहीं हो या सीमित न हो, जिसमें ही सभी पद निहित हों या जिसमें उनका समावेश भी हो, उसे पदातीत की संज्ञा है । वह ईश्वर मात्र ईश्वर है, शून्य ही है ।

● आकार, आयतन और घनत्व के भेद से रूप का, नाद, गति, भाषा परिभाषा के भेद से शब्द का तथा उद्‌भव, विभव एवम् प्रलय के भेद से गुण की अवस्था एवम् अनुपात है ।

● नियम एवम् प्रक्रिया पूर्वक सिद्ध सिद्धि की 'अर्थ' संज्ञा है ।

● सर्वत्र प्राप्त साम्य सत्ता की जानकारी (ज्ञान) की 'पदातीत अर्थ' संज्ञा है, क्योंकि उसके अस्तित्व का अनुभव है । उत्पत्ति व अनुपात का कारण या निर्णय वर्तमान समय तक प्राप्त नहीं है । यह साम्य सत्ता क्रिया के मूल में प्राप्त सत्ता है और मनुष्य के द्वारा ज्ञान अथवा जानकारी के रूप में प्राप्त है ।

● सर्वत्र एक ही प्रकार से स्थित होने के कारण साम्य सत्ता की ही व्यापक संज्ञा है । इसलिये पदातीत एक और पद अनेक हैं, क्योंकि इकाईयां अनन्त हैं ।

● हर इकाई अपने ह्रास, विकास, पूर्ण क्षमता, योग्यता, पात्रता के अनुसार अपने अपने पद में अवस्थित है ।

● पद का निर्णय इकाई के गठन, प्रक्रिया एवम् आचरण से होता है ।

● पद भेद से अर्थ भेद, अर्थ भेद से व्यवहार भेद, व्यवहार भेद से प्रक्रिया भेद तथा प्रक्रिया भेद से अर्थ भेद है ।

● छः ओर से सीमित पिण्ड को इकाई तथा ऐसी ही अनेक इकाईयों अथवा इकाईयों के समूह को अनन्त एवम् असीम स्थिति को निरपेक्ष शक्ति की संज्ञा है, जिसे व्यापक सत्ता भी कहते हैं । व्यापक निरन्तर मानव के द्वारा आनन्द के अर्थ में अनुभूत है ।

● सीमित अर्थ से मात्र सुख और दुःख होता है । सुख और दुःख का मन में भास, वृत्ति में आभास तथा चित्त में प्रतिभास होता है और बुद्धि में बोध होता है ।

● इच्छानुसार द्रवित होने वाले और चेष्टा करने वाले अंग की इन्द्रिय संज्ञा है, जिनको शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेन्द्रियों के नाम से जाना जाता है ।

● परिणामवादी फल की ओर की गई चेष्टा या प्रयास को 'अपूर्ण प्रयास' एवम् अपरिणामवादी फल की ओर की गई चेष्टा या प्रयास को 'पूर्ण प्रयास' की संज्ञा है ।

● नित्य एवम् शाश्वत सत्ता के बोध के बिना सत्यबोध, सत्यबोध के बिना सत्य प्रतीति व अनुभूति, सत्य प्रतीति व अनुभूति के बिना संतुलन, संतुलन के बिना स्फुरण, स्फुरण के बिना विकास, विकास के बिना समाधान, समाधान के बिना व्यवहार शुद्धि, व्यवहार शुद्धि के बिना सह-अस्तित्व, सह-

अस्तित्व के बिना स्वर्गीयता, स्वर्गीयता के बिना निर्विरोध भाव तथा निर्विरोध भाव के बिना नित्य एवम् शाश्वत सत्ता का बोध नहीं है।

● आवश्यकता भेद से ही लक्ष्य भेद है, जिसमें (चैतन्य पक्ष के विकास) पारलौकिक लक्ष्य से मानव जीवन सफल होता है, अन्यथा असफल है ही। विकृत संस्कार से मूलतः व्यावहारिक व्यवधान तथा सुसंस्कृत संस्कार से व्यवहार सुगमता पाई जाती है।

—★—

卐 नौ

● दर्शन के लिये दर्शक, दृश्य और दृष्टि का रहना अनिवार्य है।

● दर्शक की क्षमता, दृष्टि के परिमार्जन के योग से दृश्य की दर्शन क्रिया है। जो जैसा है, उसको वैसा ही समझने की क्षमता, उसे वैसा ही देखने की तकनीक के योग से दर्शन क्रिया है।

● दर्शन के भेद से लक्ष्य भेद है, क्योंकि जो जैसा जिसका दर्शन करता है, उसके अनुसार उसके साथ जो अर्थ है, उसको लक्ष्य स्वीकारता है। यही मूल्यांकन क्रिया है।

● वातावरण, अध्ययन, पूर्व संस्कारों के अनुबन्धानुक्रम से दर्शन क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता है। क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के अनुसार ही विकास एवम् ह्रास की ओर गति है।

● दृष्टि द्वारा प्राप्त समझ (व्यंजनात्मक पूर्ण प्राप्त जानकारी) की दर्शन संज्ञा है।

● प्राकृतिक एवम् मानवकृत भेद से वातावरण है।

● शास्त्र, इतिहास एवम् काव्य भेद से अध्ययन है।

● वंशानुगत अभ्यास, विधि विहित तथा विधि हीन भेद से प्रयोग है।

● विकृति पर्यन्त की प्रकृति संज्ञा है एवम् वर्तमान से पहले जिसका निर्माण हो चुका है, उसका अध्ययन तथा भविष्य में जिसके निर्माण की सम्भावना है, उसका अनुमान मानव ने किया है।

∷ शास्त्र — निर्दिष्ट लक्ष्योन्मुख सिद्धान्त—प्रक्रिया एवम् नियम—तथा वस्तुस्थिति का निर्देशपूर्वक बोध कराने वाले शब्द व्यूह की शास्त्र संज्ञा है।

● नियम और प्रक्रिया ही सिद्धान्त है, क्योंकि नियम एवम् प्रक्रिया के अभाव में किसी भी क्रिया का दर्शन सिद्ध नहीं है। क्रिया के नियम एवम् प्रक्रिया के बोध से ही वैचारिक परिमार्जन सम्भव हो सका है।

∷ काव्य—इकाई के भाव, विचार एवम् कल्पना को दूसरों तक प्रसारित करने हेतु प्रयुक्त शब्द व्यूह की काव्य संज्ञा है।

∷ इतिहास—विगत की कृतियों एवम् घटनाओं के शृङ्खलाबद्ध क्रम के स्मरणार्थ प्रस्तुत भाषा या शब्द राशि की इतिहास संज्ञा है।

∷ भूगोल—पृथ्वी का सर्वेक्षण, निरीक्षणपूर्वक मानचित्र सहित रचना ज्ञान पाने के लिये सम्पादित अध्ययन को भूगोल की संज्ञा है।

∷ विकृत संस्कार—अन्याय में जो आसक्ति है, उसको विकृत संस्कार की संज्ञा है।

∷ सुसंस्कृत संस्कार—विधि में जो विश्वास है, उसकी सुसंस्कृत संस्कार संज्ञा है।

● मानवीयतापूर्ण प्रवृत्ति एवम् व्यवहार की न्याय तथा अमानवीयतापूर्ण प्रवृत्ति एवम् व्यवहार की अन्याय संज्ञा है।

● यथार्थ जानकारी के पश्चात उसके प्रति उत्पन्न दृढ़ता की विश्वास संज्ञा है।

∷ न्यायपूर्वक की गई कृति की सुकृति तथा अन्यायपूर्वक की गई कृति की दुष्कृति संज्ञा है।

● मानवीयता के लिये आवश्यक नियम ही न्याय है, जिससे ही मानवीयता का संरक्षण एवम् संवर्धन सिद्ध है।

● मनुष्य के व्यवहार का नियंत्रण न्याय से, वैचारिक संयमता धर्म से तथा अनुभव मात्र सत्य से सम्पन्न है।

● नियम से ही नियंत्रण है। स्वीकारने योग्य लक्ष्य से ही धारणा है एवम् जिसका परिणाम नहीं है, वह सत्य है।

● मनुष्य ने स्वीकारने योग्य तथ्य एवम् लक्ष्य सुख को जन्म से ही स्वीकार कर लिया है।

● स्थूल व सूक्ष्म भेद से ही विकृति अथवा सुकृति है। विज्ञान व विवेक के अध्ययन एवम् प्रयोग से ही विकास तथा अज्ञान एवम् अविवेक से ही ह्रास है।

● विकास व ह्रास द्वारा ही मानव का मनाकार साकार होता है।

● आसक्ति एवम् अनासक्ति भेद से ही मानव की मनः स्वस्थता की आशाएँ हैं।

● यह आशाएँ मोक्ष, स्वर्ग, अर्थ एवम् काम के प्रलोभन, प्रत्याशा व लक्ष्य भेद से दर्शन (शास्त्र) स्वकृत व अनुकृत भेद से काव्य, जिस कार्य, विचार व व्यवहार से क्लेशोदय हो वह निषेध तथा जिससे सुखोदय होता है वह विधि के रूप में स्वीकारी जाती हैं।

● प्राकृतिक एवम् कृत्रिम वातावरण मनुष्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल होता है।

● मानव में आशाएँ मानवीय, अमानवीय व अतिमानवीय अवस्था भेद से हैं।

● प्रवृत्ति व निवृत्ति (बंधन एवम् मोक्ष) पक्ष के स्पष्टीकरण भेद से शास्त्र, विहिताविहित भेद से आशाएँ विचार, इच्छा एवम् संकल्प हैं, जिसकी विवेचना, अध्ययन व प्रयोग करने का अवकाश एवम् अवसर केवल मानव में है।

● जड़ जीवन में मात्र गति पाई जाती है।

● समस्त जड़ क्रिया में अकेले परमाणु को क्रियाशील नहीं पाया जाता

है। परमाणु समूह मध्यांश तथा आश्रित अंशों सहित क्रिया के रूप में परिलक्षित होता है। इसलिए ज्ञात होता है कि जड़ पदार्थ में भी गति स्वतन्त्रता नहीं है।

● जब एक परमाणु विकासपूर्वक चैतन्य हो जाता है, उसी समय से जीने की आशा बन्धन स्वरूप पाई जाती है। यह इससे सिद्ध होता है कि हर जीव जीना चाहता है।

● मनुष्य बुद्धिजीवी होने के कारण, जीवित रहकर विचार, इच्छा, अहंकार तथा संकल्प का प्रयोग वृत्ति, चित्त तथा बुद्धि द्वारा करता है।

● वृत्ति का बन्धन, विचार का बन्धन है, जो स्वविचार को श्रेष्ठ समझने से है तथा इससे अमानवीयतापूर्ण विचार का प्रसव होता है।

● न्याय पूर्ण विचार से वैचारिक मुक्ति उपलब्ध होती है।

● चित्त का बन्धन इच्छा का बन्धन है, जो स्वयं द्वारा किए गए चिन्तन को श्रेष्ठ समझने से होता है। इससे अमानवीयता की पोषणकला तथा चिन्ता का जन्म होता है।

● धर्म पूर्ण चिन्तन से अथवा चित्रण से इच्छा से मुक्ति होती है।

● बुद्धि द्वारा मूल्यांकन (भाव) को अथवा स्व-मूल्यांकन को श्रेष्ठ समझने से बौद्धिक बन्धन होता है। इससे अभिमान का उदय होता है।

● सत्य-बोध से परिपूर्ण संकल्प से बौद्धिक मुक्ति होती है।

● लोकासक्ति से (जड़ पक्ष से) विषय सुख तथा आत्मबोध से सहज सुख की निरन्तरता है।

● लोक परिणाम वादी है, अतः उसका सुख भी क्षणिक है। इसीलिए लोकासक्ति बन्धन का कारण है।

● आत्मबोध अमर है या अपरिणामी है, इसीलिए आत्मबोध का सुख शाश्वत।

● अतः ह सिद्ध होता है कि जिसमें सुख की निरन्तरता नहीं है, उसी में सुख पाने का प्रयास ही बन्धन है तथा जिसमें सुख स्वभाव है, उसका अनुभव ही मोक्ष है।

● इच्छा की पूर्ति के लिए क्रिया तथा क्रिया की पूर्ति के लिए इच्छा निरन्तर व्यस्त है, जिसकी पूर्ति नहीं है। अर्थात इच्छा एवम् क्रिया के सम्मिलित स्वरूप की 'लोक' संज्ञा है।

● जिसकी पूर्ति नहीं है, जो पूर्ण नहीं है, उसकी पूर्ति के प्रति और पूर्णता के प्रति जो दृढ़ आसक्ति है उसकी 'मृगतृष्णा' तथा भ्रान्ति संज्ञा है, जो बन्धन है।

● मृगतृष्णा अथवा भ्रान्ति का निराकर्षण दर्शन से सम्भव है।

● इकाई का ही दर्शन है और इसके लिए इकाई के रूप, गुण, स्वभाव और धर्म का अध्ययन अत्यंत अनिवार्य है।

● पूरी सृष्टि का कुल अध्ययन जड़, चैतन्य तथा व्यापकता के संदर्भ में ही है।

● संपूर्ण सृष्टि का अध्ययन मानव ने कुल छः दृष्टिकोणों से किया है-

(१) प्रियाप्रिय, (२) हिताहित, (३) लाभालाभ, (४) न्यायान्याय, (५) धर्माधर्म और (६) सत्यासत्य।

● प्रलोभन से आशय, आशय से आवश्यकता, आवश्यकता से अध्ययन, अध्ययन से क्षमता, क्षमता से दृष्टि, दृष्टि से दर्शन तथा दर्शन से प्रलोभन व स्पष्टीकरण है।

● मानव में अर्थ तथा काम के प्रलोभन से ही प्रियाप्रिय, हिताहित तथा

लाभलाभ दृष्टियां क्रियाशील हैं, साथ ही धर्म तथा मोक्ष के प्रलोभन से न्यायान्याय, धर्माधर्म तथा सत्यासत्य दृष्टियां क्रियाशील हैं।

● मानवीयता तथा अतिमानवीयता से समृद्ध होने के लिए मोक्ष व धर्म का प्रलोभन आवश्यक है।

● प्राप्ति के लिए की गई प्रारंभिक तैयारी ही प्रलोभन है। प्राप्ति के सम्भावनात्मक विचारों की आशय, जिसकी उपलब्धि के बिना तृप्ति सम्भव न हो उसे आवश्यकता की संज्ञा है।

● अधिष्ठान (आत्मा) की साक्षी में स्मरणपूर्वक किए गए प्रयास को अध्ययन, जो जितनी शक्तियों से सम्पन्न है, वह उसकी क्षमता, क्षमता द्वारा प्रतिक्रियात्मक रूप से की गई रीति को दृष्टि, और दृष्टि प्रतिबिम्बन क्रिया को दर्शन की संज्ञा दी जाती है।

● क्रिया मात्र ही दृश्य है, जिसकी लोक संज्ञा है।

● दृश्य का दर्शन तथा अदृश्य (ईश्वर) का अनुभव ही ज्ञानावस्था की इकाई के पूर्ण विकास का द्योतक है।

● लोक तृष्णा से त्रस्त एवम् इसमें व्यस्त समस्त प्रयत्नों में मानव को श्रम की पीड़ा की ही उपलब्धि है। इसीलिये मनुष्य ने श्रम की पीड़ा से मुक्त होने का यत्न भी किया है, जो मनुष्य की क्षमता, योग्यता, एवम् पात्रता के अनुसार सफल अथवा असफल हुआ है।

● मानव ने अमानवीयता, मानवीयता और अतिमानवीयता का अध्ययन करने का प्रयास किया है। उपरोक्त तीनों दृष्टि, स्वभाव एवम् विषय का वर्णन पूर्व अध्यायों में किया जा चुका है।

● शून्य ही ज्ञान है, ज्ञान ही नियम है तथा नियम ही शून्य है, जिसको अस्तित्व में पाया जाता है।

● हर क्रिया नियम से नियन्त्रित है।

● विषयी, विषय तथा विषय-वस्तु यह तीनों पृथक-पृथक क्रियाएँ हैं।

● क्रिया को पाकर, किए गए श्रम से, विश्राम की प्रतीक्षा एवम् प्रयास मानव ने किया है, जो असफल सिद्ध हुआ है। इसके साथ ही व्यावहारिक एवम् वैचारिक एक-सूत्रता पूर्वक सह-अस्तित्व भी सिद्ध हुआ है, जो मात्र नियम एवम् व्यापकता की महिमा है।

● समस्त क्रियाएँ शून्य से नियन्त्रित तथा संरक्षित हैं। क्योंकि इकाई और इकाई के बीच शून्य का अभाव नहीं है। इसलिये शून्य ही नियम एवम् नियंत्रण सिद्ध हुआ है। इसी के भास, आभास एवम् अनुभूति के योग्य क्षमता योग्यता एवम् पात्रता से सम्पन्न होने के लिए ही मानव ने अनवरत प्रयास विभिन्न स्तरों पर किया है, कर रहा है और करता रहेगा।

● उक्त प्रयास के मूल में क्षमता, क्षमता के मूल में अध्ययन, अध्ययन के मूल में पात्रता, पात्रता के मूल में योग्यता, योग्यता के मूल में कर्माभ्यास, कर्माभ्यास के मूल में साधन, साधन के मूल में एकसूत्रता, एकसूत्रता के मूल में प्रयास हर इकाई में पाया जाता है।

● परस्पर क्रिया व संकेत ग्रहण सहित अनुसरण क्रिया की 'एकसूत्रता' संज्ञा है।

● अधिक शक्ति अंशों द्वारा प्रसारित संकेतानुसरण से ही एकसूत्रता व विकास है, अन्यथा ह्रास है। क्योंकि न्यून शक्ति अंश का वृहत् शक्ति अंश को संबोधित करना असम्भव है।

● हर इकाई अनन्त की तुलना में अंश ही है।

● हर इकाई का गठन अनेक अंशों से सम्पन्न है।

● विखण्डन-पूर्वक एकसूत्रता की उपलब्धि सिद्ध नहीं है, क्योंकि क्रिया किसी गठन पर ही आधारित होती है। इसी आधार के अनुपात में खण्डित

में दाह (ताप या दु:ख) पाया जाता है। यह दाह ताप या दु:ख पुनः दूसरे के लिये विखण्डन क्रिया बन जाता है।

● विखण्डन क्रिया से किसी का अस्तित्व मिटाया नहीं जा सकता है, क्योंकि गणितशः इकाई का विखण्डन करते करते भी कुछ शेष रह ही जाता है।

● मानव लौकिक एवम् पारलौकिक भेद से व्यवहार करता है।

● समस्त लौकिक व्यवहार स्वार्थ या परार्थ भेद से हैं तथा पारलौकिक व्यवहार सबीज और निर्बीज भेद से हैं।

● नैतिक एवम् अनैतिक भेद से स्वार्थ पूर्ण व्यवहार है। इसका सम्बन्ध स्वजन, स्ववर्ग, स्वजाति, स्वमन, स्वसम्प्रदाय, स्वपक्ष तथा स्वभाषा भेद से है, जबकि, परार्थ व्यवहार सर्व-जन, सर्व-वर्ग, सर्व-जाति सर्व-मन, सर्व-सम्प्रदाय, सर्व-पक्ष तथा सर्व-भाषा भेद से है।

● स्वार्थ (प्रलोभन) अर्थ व काम के भेद से है।

● परार्थ व्यवहार धर्म और अर्थ के भेद से है।

● परमार्थ विचार एवम् व्यवहार धर्म तथा मोक्ष के भेद से है।

● मानवीयता के लिये आवश्यकीय नियमपूर्वक किये गये समस्त राज्यनीति एवम् धर्मनीति सम्मत व्यवहार को 'नैतिक' तथा अमानवीयता पूर्ण किये गये व्यवहार को 'अनैतिक' की संज्ञा है।

● स्वजन, वस्तु व सेवा को महत्वपूर्ण और अन्य को गौण समझने वाली प्रवृत्ति की स्वार्थ संज्ञा है। इसी प्रकार परजन, वस्तु व सेवा में अधिक महत्व का अनुमान करने वाली प्रवृत्ति व प्रयास को परार्थ की संज्ञा दी जाती है।

● इष्ट सान्निध्य की वांछा से युक्त विचार को सबीज विचार तथा ज्ञान के तद्रूप विचार को निर्बीज विचार की संज्ञा है।

● व्यष्टि के अस्तित्व में पाया जाने वाला अभिमान व अहंकार ही संकीर्णता व क्लेश का मूल कारण है।

● समष्टि के अस्तित्व की यथार्थ जानकारी से उदारता एवम् कृतज्ञता की उपलब्धि होती है और व्यापक सत्ता की अनुभूति से भ्रान्ति का उन्मूलन होता है।

● यथार्थ दर्शन के बिना मानवीय विचार, मानवीय विचार के बिना मानवीय कर्म में प्रवृत्ति, मानवीय कर्म के बिना व्यवहार की एकसूत्रता, व्यवहार की एकसूत्रता के बिना निर्विरोधता, निर्विरोधता के बिना निर्विरोधता पूर्ण समाज, निर्विरोधतापूर्ण समाज के बिना सह-अस्तित्व, सह-अस्तित्व के बिना समृद्धि, समृद्धि के बिना स्वर्गीयता, स्वर्गीयता के बिना विवेक व विज्ञान पूर्ण अध्ययन, विवेक व विज्ञानपूर्ण अध्ययन के बिना यथार्थ दर्शन नहीं है।

— ★ —

卐 दस

● मुक्ति की आशा सर्व मानव में पाई जाती है।

● दु:ख से मुक्ति तथा जीवन से मुक्ति—इन दो भेद से ही मुक्ति के लिये प्रयास है। इसी के लिये समस्त अध्ययन, उपासना, प्रयोग, व्यवसाय, अभ्यास और निष्ठा है।

● अध्ययन से हर इकाई की गठन प्रक्रिया एवम् उसका परिणाम स्पष्ट होता है।

★ रूप, गुण परिवर्तनशील है जबकि तत्व शाश्वतवादी है, क्योंकि तत्व चारों अवस्थाओं में पाया जाता है। सभी वृहत् इकाईयों के गठन का मूल तत्व परमाणु है। सभी तत्वों के परमाणु का गठन समान है। परमाणु का गठन भी मध्यांश तथा आश्रित अंशों से है। परमाणु के आश्रित अंशों की सक्रियता एवम् विकास भेद से ही सभी अवस्थाएँ हैं।

● उपासना से इष्ट इकाई (नाम, रूप सहित) का सान्निध्य मिलता है।

● प्रयोग से व्यावहारिक साधनों की उपलब्धि होती है।

● व्यवसाय से भोग सामग्रियों की उपलब्धि होती है।

● अभ्यास से कुशलता एवम् पारंगतता उपलब्ध होती है।

● निष्ठा से न्याय, धर्म एवम् सत्य के आश्रय में हर लक्ष्य के लिये अध्ययन होता है। निष्ठा के फलस्वरूप अनुभूति होती है। अनुभूति मात्र सत्य की है। सत्य की अनुभूति ही जीवन-मुक्ति है।

● व्यापक एक और इष्ट अनेक हैं।

:: इष्ट—निर्भ्रान्त जानकारी सहित स्वेच्छापूर्वक जिसके प्रति श्रद्धा, विश्वास एवम् निष्ठा है, उसे इष्ट की संज्ञा है।

● इष्ट में निष्ठा की निरन्तरता से ही अनुभूति है।

● तत्व अमरत्ववादी है, इसीलिये नित्य सत्ता का अनुभव करने योग्य योग्यता को पाने का अवसर हर इकाई को है।

● दूसरे के अस्तित्व के बिना जिसका अस्तित्व सिद्ध न होता हो, उसको सापेक्ष की संज्ञा दी जाती है।

● मनुष्य के उत्तरोत्तर इष्टानुवर्ती गुण व विभूति को पाने के प्रयास में सबीज विचार तथा व्यापकानुवर्ती विचारानुक्रम में निर्बीज विचार सफल है।

● असंग्रह से निर्बीज प्रवृत्ति का प्रसव है।

● असंग्रह—व्यय के लिये की गई आय की असंग्रह संज्ञा है तथा इसका सद्व्यय अनिवार्य है।

● अकर्तृत्व व अकर्मणत्व के निश्चय से ही असंग्रह होता है।

● निराकर्षण से अकर्तृत्व तथा अचेष्टा से अकर्मण्यता है।

● चेष्टा से मुक्त होने का अधिकार किसी इकाई में नहीं है अथवा किसी इकाई द्वारा सिद्ध नहीं हुआ है, इसीलिये चेष्टा से मुक्ति के प्रयास को अकर्मण्यता, आलस्य एवम् प्रमादात्मक दोष निरूपित किया है।

:: अकर्मणत्व—कर्म से मुक्ति पाने के प्रयास की अकर्मणत्व संज्ञा है।

:: आलस्य—किसी कार्य को जानते हुए, उसकी उपादेयता सिद्ध होते हुए भी उसे न करना आलस्य है।

:: प्रमाद —जिस कार्य में उपादेयता सिद्ध होती हो, उस म्बन्ध

में ज्ञान के अभाव में वांछित क्रिया न सम्पन्न होने वाली स्थिति प्रमाद है।

● आंशिक एवम् पूर्ण भेद से निराकर्षण है।

● अंतरंग और बहिरंग समस्त क्रियाएँ सम या विषम भेद से सम्पन्न होती हैं।

● चैतन्य पक्ष की अन्तरंग तथा जड़ पक्ष अथवा क्रिया पक्ष की बहिरंग संज्ञा है।

● समातिरेक (सृजन) विषमता के क्रियाशील होने का कारण है तथा विषमातिरेक (विसर्जन) सम के क्रियाशील होने का कारण है। यह स्थूल क्रिया में भी प्रत्यक्ष है।

● स्थिति ही मध्यस्थ है। यह सृजन से विसर्जन तक तथा विसर्जन से सृजन तक है। यह स्थूल क्रियाओं में भी प्रत्यक्ष होता है। क्रिया मात्र में स्थिति नहीं है क्योंकि परिणाम से मुक्त क्रिया नहीं है। इसीलिए ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है, जिसको स्थिति में पाया जाता है।

● हर परमाणु अपने में मध्यस्थ क्रिया है। सम विषम रत आक्रामकों को मध्यस्थीकरण की क्रिया सम्पन्न करने योग्य क्षमता, योग्यता और पात्रता के उपार्जन पर्यन्त विकास है। ऐसी पूर्ण विकसित इकाईयों को अकर्त्ता व अनासक्त की संज्ञा दी जाती है।

● आत्मा मध्यस्थ क्रिया है।

● पूर्ण विकसित इकाई में आत्मानुवर्ती बुद्धि, चित्त, वृत्ति एवम् मन की क्रियाएँ मध्यस्थीकरण प्रणाली से नियन्त्रित होती हैं, जिसके फल-स्वरूप ही सुख, शान्ति, सन्तोष एवम् आनन्द की प्रतिष्ठा होती है।

● क्रिया से मुक्त इकाई नहीं है। सम, विषम एवम् मध्यस्थ क्रिया को पाया जाता है। जैसा कि उपरिवर्णित है। सम तथा विषम क्रियाओं में

सन्तुलन नहीं है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि मध्यस्थीकरण प्रणाली से इकाई को मध्यस्थ क्रिया से सम्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार मध्यस्थ की ही क्रियाशीलता सिद्ध होती है तथा सम और विषम इसके आश्रित सिद्ध हैं।

● इकाई हो और निष्क्रिय हो ऐसी कोई संभावना नहीं है।

● मनुष्य में व्यावहारिक मध्यस्थता न्याय से, वैचारिक मध्यस्थता धर्म से तथा अनुभव की मध्यस्थता ज्ञान अथवा ईश्वर से है।

● समस्त व्यवहार नियम से नियंत्रित हैं। नियम शून्य है।

● विचार—मात्र समाधान से नियंत्रित है, जो शून्य है।

● अनुभव – मात्र व्यापकता है, जो शून्य है।

● अतः यह सिद्ध होता है कि "शून्य ही ज्ञान, ज्ञान ही व्यापक तथा व्यापक ही ज्ञान है"।

● पूर्ण विकसित इकाई में न्याय पूर्ण व्यवहार तथा समाधान पूर्ण विचारों को पाया जाता है।

● अनुभूति मात्र सत्य की ही है। सत्य की अनुभूति ज्ञानावस्था की निर्भ्रान्तावस्था की इकाई द्वारा ही होती है तथा इसका प्रभाव उसके बुद्धि, चित्त, वृत्ति तथा मन का आप्लावन होता है।

● सम विषम विचार तथा व्यवहार दोनों आस्वादन क्रियाएँ हैं।

:: आस्वादन—आशा एवम् रुचि सहित ग्रहण क्रिया की ही 'आस्वादन' संज्ञा है।

● अनुभव की व्यावहारिक मध्यस्थता, जो वृत्ति की क्रिया है, न्याय के रूप में परिलक्षित होती है।

A11. मानव व्यवहार दर्शन 1978 -द्वितीय संस_c

● अनुभव के बोध की स्थिति में, जो बुद्धि की क्रिया है, मात्र आप्लावन ही होता है ।

● उपरोक्तानुसार न्याय, धर्म या समाधान अनुभव के ही विविध स्तर हैं ।

● इसलिए व्यवहार में अनुभव तथ्य न्याय है, विचार में अनुभव तथ्य धर्म या समाधान है और आत्मानुभूत तथ्य मात्र व्यापक है ।

● व्यावहारिक मध्यस्थता सम विषम व्यवहार के बीच मध्यस्थता करने की पात्रता से है । वैचारिक मध्यस्थता सम विषम विचारों का समाधान प्रस्तुत करने योग्य योग्यता से है तथा अनुभव की मध्यस्थता व्यष्टि एवम् समष्टि की व्यापकता से आवेष्ठित दर्शन करने की क्षमता से है ।

● आत्मा का विकास व्यापकता की अनुभूति करने योग्य क्षमता तक, बुद्धि व चित्त का विकास विचारों का समाधान प्रस्तुत करने योग्य योग्यता तक, वृत्ति तथा मन का विकास समस्त व्यवहार व क्रिया को न्याय से समन्वित व्यवहार को प्रस्तुत करने की पात्रता की सीमा तक है ।

● आसक्ति रहित इकाई में अकर्तृत्व होता है ।

● आसक्ति—मात्र सम या विषम ही है ।

● इष्ट दिशा में आसक्त हो तथा अन्य दिशाओं में अनासक्त हो, उसकी 'ऐच्छिक निराकर्षण' संज्ञा है । संपूर्ण दिशाओं से अनासक्ति की ही पूर्ण-निराकर्षण संज्ञा है ।

● निराकर्षण ही अनासक्ति, अनासक्ति ही अकर्तृत्व, अकर्तृत्व ही असंचयता, असंचयता ही अभय, अभय ही स्वर्गीयता, स्वर्गीयता ही निरभिमानता, निरभिमानता ही पर-वैराग्य, पर-वैराग्य ही योग, योग ही व्यापकता का अनुभव, व्यापकता का अनुभव ही मध्यस्थता, मध्यस्थता ही जीवन-मुक्ति, जीवन-मुक्ति ही निराकर्षण है ।

● मानव समाज का पोषण एवम् सम्वर्धन जीवन मुक्त मनुष्यों का

卐 ग्यारह

● योग के प्राप्त एवम् प्राप्य दो भेद हैं ।

● जो प्राप्य है उसमें आसक्ति ही सम्पूर्ण योग वियोग तथा वियोग योग का कारण है ।

● मध्यस्थ व्यवहार, विचार एवम् अनुभव 'प्राप्त योग' है जो अनवरत उपलब्ध है ।

● एकत्व व निकटत्व के भेद से प्राप्य योग है ।

● सजातीय मिलन की एकत्व तथा विजातीय मिलन की निकटत्व संज्ञा है ।

● इकाई का ह्रास व विकास प्राप्य योग पर ही है ।

● विकास वादी योग की सुयोग तथा ह्रासवादी योग की कुयोग संज्ञा है ।

● न्याय एवम् धर्म-सम्मत विचार व व्यवहार सम्पन्न एवम् सत्यानुभूति सहित मनुष्य पूर्ण विकसित, न्याय एवम् धर्म सम्पन्न विचार व व्यवहार सम्पन्न मनुष्य विकसित, न्याय-सम्मत विचार व व्यवहार सम्पन्न मनुष्य प्रगतित तथा अन्यायासक्त विचार तथा व्यवहार सम्पन्न मनुष्य ह्रास की ओर गतिवान है ।

● जो जिसका अपव्यय करेगा वह उससे वंचित हो जाएगा ।

● मनुष्य ह्रास में आसक्ति के फलस्वरूप प्राप्त बल, बुद्धि, रूप, पद और धन का अपव्यय करता है ।

● मानव के लिए आवश्यकीय नियम, मानवीयता का संरक्षण ही है, जो न्याय है, जिसके पालन से स्वर्गीयता का प्रसव है । इसके विपरीत मानव के

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) www.madhyasth.org

लिए अनावश्यकीय नियम मानवीयता का शोषण ही है, जो अन्याय है, जिसके पालन से नारकीयता का प्रसव है।

● असंग्रह, स्नेह, विद्या, निरभिमानता (सरलता), अभय एवम् वाणी संयम से युक्त विचार मात्र से वैचारिक स्वर्गीयता की, स्वनारी/ स्वपुरुष तथा स्वधन एवम् दया से सीमित संयत व्यवहार से व्यावहारिक सुख अथवा व्यावहारिक स्वर्गीयता की उपलब्धियाँ हैं।

● इसके विपरीत संग्रह, द्वेष, अविद्या, अभिमान (दिखावा) एवम् भय तथा वाणी की असंयमता से युक्त विचार से वैचारिक नारकीयता का तथा परनारी/ परपुरुष, परधन एवम् परपीड़ा रत कार्य एवम् व्यवहार से व्यावहारिक क्लेश परम्परा की उपलब्धि है।

● मानव मानव के लिए आवश्यकीय नियमानुक्रम व्यति क्रम भेद से ही सुख व दुःख का, हर्ष एवम् अमर्ष का कारण सिद्ध हुआ है।

● समस्त सम्बन्धों एवम् सम्पर्कों, वस्तु एवम् विषय, रूप एवम् आशय के पोषक एवम् शोषक भेद से ही मानव ने नियम का पालन किया है। इनमें से मानवीयता के लिये आवश्यकीय तथा अनावश्यकीय नियमों को जान व समझ लेना ही अध्ययन है तथा इनमें से आवश्यकीय वर्गों को सभी स्तरों पर प्रयोग में लाना ही उपलब्धि है।

● मानव जीवन के स्तर वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय भेद से हैं।

● मानव के लिये "आवश्यकीय नियम ही न्याय, न्याय ही धर्म, धर्म ही सत्य, सत्य ही ईश्वर, ईश्वर ही आनन्द, आनन्द ही जीवन तथा मानव जीवन ही मानव के लिये आवश्यकीय नियम है" यह मानव जीवन का चक्र है। मानव जीवन के लिए यह सुचक्र है।

● जीने की आशा सहित इकाई को जीव तथा लक्ष्य युक्त जीव

(जागृति क्रम)

द्वारा लक्ष्य को पाने के क्रम में प्रयास की जो निरन्तरता है, उसकी जीवन संज्ञा है।

● मानव के लिये अमानवीयतापूर्ण नियम ही अन्याय, अन्याय ही अधर्म, अधर्म ही असत्य, असत्य ही अनीश्वरता, अनीश्वरता ही अनानन्द, अनानन्द ही जीवत्व (अमानवीयता), जीवत्व ही मानव के लिये अनावश्यकीय नियम है। यह जीव चक्र है, जो मानव के लिये कुचक्र है।

● सामाजिक स्तर पर सार्वभौमिक सिद्धान्त के आविष्कार को नियम की, नियम को शासन के स्तर पर व्यवस्थापूर्वक व्यवहृत करते हुए न्याय की, न्याय को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परस्पर समाधानित विचार पूर्ण नीति द्वारा व्यवहृत करते समय धर्म की, धर्म को ब्रम्हाण्ड के स्तर पर व्यवहृत करते समय सत्य की, अनन्त ब्रम्हाण्ड के स्तर पर व्यवहृत करते समय उसे ईश्वर की, इसी ईश्वरीय सत्ता को मनुष्य द्वारा अनुभव की दशा में आनन्द की, तथा आनन्द को व्यक्तिगत जीवन में आचरित करने की जीवन संज्ञा है।

● सुख, संतोष, शान्ति एवम् आनन्द, यह सुख की चार अवस्थाएं हैं।

● सुख की चार अवस्थाओं के पोषक नियमों को मनुष्य के लिए आवश्यकीय नियम तथा इनके शोषक नियमों को अनावश्यकीय नियम की संज्ञा है, क्योंकि समस्त मानव सुखानुभव की प्रतीक्षा, आशा, प्रयोग एवम् प्रयास में रत हैं।

● विधि की न्याय, समत्ववादी अथवा श्रेयवादी स्वभाव की धर्म, यथार्थता की सत्य, व्यापकता की ईश्वर, पूर्ण समाधान की आनन्द, आवश्यकीय नियमाचरण की जीवन, निरपेक्ष शक्ति की नियम अथवा शून्य संज्ञा है।

● लोकेशानुभव का अवसर आत्मा को, लोकदर्शन का अवसर बुद्धि व चित्त को तथा न्यायोचित व्यवहार का अवसर वृत्ति व मन को है।

फा०—७

● संशय व विपर्यय से मुक्त जो बौद्धिक स्थिति है, उसकी पूर्ण समाधान, इच्छापूर्वक किए गए अन्तरंग व बहिरंग व्यवहार की आचरण तथा सार्वभौमिक सिद्धान्त की नियम संज्ञा है।

● अनिश्चयता की संशय एवम् अयथार्थता की विपर्यय संज्ञा है।

卐 बारह

● अवलोकन भेद से ही लक्षण, लोक, आलोक एवम् लक्ष्य है।

∷ लक्षण—रूप, गुण, स्वभाव व धर्म की 'लक्षण' संज्ञा है।

∷ लोक—इच्छा एवम् क्रिया के सम्मिलित रूप की 'लोक' संज्ञा है।

∷ आलोक—ज्ञान की ही 'आलोक' संज्ञा है।

∷ लक्ष्य—क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता अनुसार योगानुभूति योग्य विकास के लिये किए गये प्रयोग एवम् प्रयास के अनुभूति की 'लक्ष्य' संज्ञा है।

● आलोक सहित (बोध पूर्वक) की ... दर्शन क्रिया की 'अवलोकन' संज्ञा है।

● भोग, प्राप्य योग व अनुभव के भेद से लक्ष्य का निर्धारण किया जाता है।

● भोगासक्ति का लक्ष्य विषय चतुष्टय (आहार, निद्रा, भय और मैथुन) सहित पुत्रेषणा और वित्तेषणा है।

● प्राप्य योग का लक्ष्य लोकेषणा सहित किसी क्रिया के योग से प्राप्त विभूति, अथवा, सामर्थ्य द्वारा जन जाति को आप्लावित, प्रभावित व सम्मोहित करना है।

● विषयासक्त मानव क्रिया से क्रिया की तृप्ति चाहता है, जो सम्भव नहीं है। क्योंकि क्रिया+क्रिया से ह्रास अथवा विकास ही संभव है।

● क्रिया-मात्र अपूर्ण है। अपूर्ण को पाकर अपूर्ण तृप्त नहीं हो सकता। तृप्ति की संभावना केवल न्याय, धर्म एवम् सत्यानुभूति से ही है।

● प्राप्य योगासक्ति-पूर्वक किये गये प्रयास की सिद्धि से ही विशुद्ध मानवीयता की उपलब्धि होती है, जिससे स्वतन्त्र रूप से मानवीयता का संरक्षण होता है।

● प्राप्त योगानुभूति ही अन्तिम विकास है। ऐसी इकाईयाँ ही अनवरत रूप से अन्य के विकास के लिये समुचित प्रेरणा-श्रोत हैं।

● निरीक्षण, परीक्षण एवम् सर्वेक्षण क्रिया द्वारा कारण, गुण व गणित के संयोग से की गयी अवलोकन क्रिया द्वारा ही सत्यता का परिचय होता है।

● उक्त संयोग की अपूर्णता में ही समस्त मतभेद हैं।

● मतभेद ही क्रम से विरोध, द्रोह, विद्रोह, द्वेष, विद्वेष, सशंकता, आतंक, दास्यता एवम् दुष्टता का कारण है।

● जनजाति के स्तर पर समस्त मतभेद के मूल में एक से अधिक पक्ष का होना अनिवार्य है। उसमें सभी गलत हों तब, अथवा, कोई एक पक्ष अवश्य गलत हो, तो संघर्ष अवश्य होता है। सब सही हों, ऐसी स्थिति में संघर्ष संभव नहीं है।

● लक्ष्य भेद से आचरण भेद एवम् विचार में भी प्रभेद पाया जाता है।

● स्व-पर परिस्थिति-बाध्यता के भेद से ही लक्ष्य निर्णय है।

● स्व-कृत निर्णय, पूर्णता एवम् अपूर्णता के दिशा-भेद से है। यथार्थता की ओर 'पूर्णता' तथा भ्रामकता की ओर 'अपूर्णता' की संज्ञा है।

● विज्ञान एवम् विवेक के विधिवत अध्ययन से यथार्थता की ओर प्रयासोदय है, अन्यथा भ्रामकता की ओर प्रयास है।

● प्रयास ही क्रिया है।

● सुकर्म एवम् दुष्कर्म के आशय भेद से वैयक्तिक जीवन व जीविका है। तदनुसार ही भावी घटनाएँ एवम् कार्य सम्पन्न होते हैं।

● सच्चरित्र एवम् दुश्चरित्र के भेद से कुटुम्ब है तथा तद्नुरूप ही अग्रिम प्राप्तियाँ हैं।

● सिद्धान्त, मत, सम्प्रदाय, वर्ग, भाषा व जाति के विचार व प्रचार भेद से सामाजिक जीवन है तथा उसी के प्रतिरूप में उसके लिये भावी घटनाएँ हैं।

● न्याय व अवसरवादिता-पूर्ण नीति भेद से राष्ट्रीय जीवन है, तथा तद्नुसार ही उसका भावी मार्ग उत्थान एवम् पतन के लिये प्रशस्त है।

● विवेक अथवा अविवेक, विज्ञान अथवा सामान्य ज्ञान सम्पन्न विचार व मर्यादा के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन है, जिसके अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की घटनाएँ मानव समाज के संगठन व विघटन के रूप में भावी क्षणों में प्रतिष्ठित हैं।

● मानव समाज जितना विघटन को प्राप्त करे, उतना ही ह्रास है तथा जितना संगठन को प्राप्त करे, उतना ही विकास है।

● मानव समाज में गलती के बिना वैचारिक मतभेद सिद्ध नहीं है।

● नियमपूर्वक किये गये कार्य एवम् विचार को 'सुकर्म' तथा इसके विपरीत को 'दुष्कर्म' की संज्ञा है।

● नैतिकता सम्पन्न (राजनीति तथा धर्म-नीति सम्पन्न) कुशलता सहित किये गये चरित्र चित्रण को 'सच्चरित्र' तथा उसके विपरीत को 'दुश्चरित्र' की संज्ञा है।

● सिद्धान्त, मात्र सत्य ही है। सिद्धान्त वैविध्यता का कारण नहीं है। सिद्धान्त में वैविध्यता है भी नहीं। यदि है, तो वह सिद्धान्त नहीं है।

● न्यायपूर्ण नीति वह है, जिससे मानवीयता का संरक्षण हो। अवसरवादी नीति वह है, जिससे मानवीयता का संरक्षण न होता हो।

● बौद्धिक समाधान के लिये प्राप्त ज्ञान ही विवेक है तथा भौतिक समृद्धि के लिये प्राप्त ज्ञान विज्ञान है। इनके विपरीत में अविवेक तथा सामान्य ज्ञान है।

● अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीयता का मूल उद्देश्य बौद्धिक समाधान तथा भौतिक समृद्धि का सन्तुलन एवम् संरक्षण बनाये रखना ही सिद्ध होता है, जिससे मानव समाज में सह-अस्तित्व सिद्ध होता है, अन्यथा सहअस्तित्वविहीन मानव समाज-विखण्डन के रूप में है ही।

● अंतरंग (वैचारिक) एवम् बहिरंग (व्यवहार) भेद से सुगमताएँ एवम् दुर्गमताएँ हैं।

● अर्थ व काम के भेद से समृद्धि का, नैतिकता व व्यक्तित्व के भेद से चरित्र का, सह-अस्तित्व तथा सभ्यता के प्रति सहानुभूति के भेद से सामाजिकता का, न्याय पालन, प्रबोधन तथा पोषण से राष्ट्रीयता का, विज्ञान व विवेक से प्राप्त समृद्धि एवम् समाधान के भेद से अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का विकास है, अन्यथा में ह्रास है।

● संग्रह व उपयोग के आशय भेद से अर्थोपार्जन तथा पाशविक, राक्षसी तथा मानवीय मान-दण्ड के अनुसार कामोपयोग और अस्तित्व, पुष्टि एवम् सुख के आशय भेद से धर्म का अनुसरण मानव ने किया है।

● संग्रह कामना तुष्टि की पोषक नहीं है क्योंकि संग्रह की पूर्ति नहीं है।

● मानव आकांक्षाएँ, सामान्य आकांक्षाओं तथा महत्वाकांक्षाओं के रूप में परिलक्षित हैं एवम् मानव द्वारा तदनुसार ही उत्पादन व उपभोग में अर्थ का नियोजन है।

● मानव की सामान्य आकांक्षा आहार, आवास एवम् अलंकार भेद से है, जिसकी पूर्ति के लिये वह उत्पादन एवम् उपभोग में व्यस्त है।

● मानव की महत्वाकांक्षाओं को मूलतः तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है—(१) दूर-गमन, (२) दूर-श्रवण तथा (३) दूर-दर्शन। इनकी पूर्ति हेतु भी मानव उत्पादन एवम् उपयोग में व्यस्त है।

● सामान्य आकांक्षा की अपूर्ति से असंतोष, पूर्ति से सशंकता तथा अधिकता से संतुष्टि की उपलब्धि होती है।

● महत्वाकांक्षा की अपूर्ति से कौतूहल, पूर्ति से तृप्ति तथा अधिकता से असंतोष होता है।

● न्यायवादी तथा अवसरवादी नीति भेद से ही मनुष्य ने दूसरों पर नियंत्रण पाने का प्रयास किया है, जो देश, भाषा, वर्ग, जाति व बल व्यापी भेद से पाया जाता है, जो राष्ट्र के प्रति निष्ठा या विद्रोह के रूप में व्यक्त होता है।

● अन्यायपूर्ण विधि (कानून), विधान व नीति से हिंसा, प्रतिहिंसा, सशंकता तथा आतंक का प्रसव होता है।

● हर मनुष्य में न्याय की याचना जन्मजात स्वभाव के रूप में पायी जाती है, जिसका स्पष्टीकरण योग्य अध्ययन अति आवश्यक है।

● न्याय से अन्याय का अथवा अन्याय से न्याय का दमन करने के लक्ष्य भेद की अभिलाषा से समस्त विधि विधान एवम् नीतियों का अनुमोदन मनुष्य करता है। इसी आधार पर एक अथवा अनेक राष्ट्रों का जीवन सफल तथा असफल है।

● पूर्ण दर्शन लोक-व्याप्त एवम् अपूर्ण दर्शन मानव सम्पर्क की सीमा तक ही है।

● रहस्य का पोषण करने वाले दर्शन को 'अपूर्ण' और रहस्यों का उन्मूलन करने वाले दर्शन को पूर्ण दर्शन की संज्ञा है।

● रहस्यों का निवारण अध्यात्म विज्ञान, बौद्धिक विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान के एक-सूत्रात्मक अध्ययन से ही सम्भव है।

● लोक के प्रति अनासक्त मानवों ने ही ज्ञानानुभव किया है। ऐसे अनुभूति-तप्त व्यक्तियों में व्यावहारिक सन्तुलन एवम् वैचारिक समाधान सहज ही रहता है।

● इच्छा की अपेक्षा में क्रिया अल्प है। इच्छा शक्ति अधिक से अधिक क्रिया में व्यस्त है। अनुपात से अधिक शक्ति नियोजन अपव्यय है। यह अपव्यय ही आसक्ति है। इसका निरोध तथा नियंत्रण ही अनासक्ति है।

● प्रधानत: कारणानुक्रम से अध्यात्म विज्ञान का, गुणानुक्रम न्याय से बौद्धिक विज्ञान का और गणितानुक्रम न्याय से भौतिक विज्ञान का अनुसंधान, आविष्कार और उपलब्धियाँ हैं।

● परस्पर अनुशासित या अनुवर्तित लोक-व्यूह की ब्रह्माण्ड संज्ञा है, जिसमें अनेक सौर-व्यूह हैं।

● गणितानुक्रम न्याय से क्रिया, प्रतिक्रिया एवम् परिपाक (फल) का, गुणानुक्रम न्याय से ह्रास एवम् विकास का, कारणानुक्रम न्याय से सापेक्ष एवम् निरपेक्ष शक्ति का अध्ययन, आभास एवम् अनुभव पूर्ण हुआ है।

● निरपेक्षता के बिना व्यापकता सिद्ध नहीं है, क्योंकि सापेक्ष मात्र ससीम ही है।

● व्यापक ही ज्ञान, ज्ञान ही शून्य, शून्य ही नियंत्रण, नियंत्रण ही नियम तथा नियम ही निरपेक्ष शक्ति तथा निरपेक्ष शक्ति ही ज्ञान है।

● नियंत्रण एक और नियंत्रित अनेक हैं।

● जो नियंत्रित है, वह इकाई है, क्रिया है।

● क्रियाएँ अनन्त हैं तथा समस्त क्रियाएँ शून्य में ही ओतप्रोत हैं। जिससे हर इकाई शक्त है अर्थात् शून्य से ही हर इकाई को शक्ति प्राप्त है।

● शक्त ही इकाई, इकाई ही स्पन्दन, स्पन्दन ही क्रिया, क्रिया ही अनेकता, अनेकता ही सम्पूर्णता, संपूर्णता ही सापेक्षता, सापेक्षता ही संघर्ष, संघर्ष ही परिणाम, परिणाम ही ह्रास एवम् विकास, ह्रास एवम् विकास ही अवस्था, विकसित अवस्था ही चैतन्यता, चैतन्यता ही स्फुरण, स्फुरण ही कम्पन, कम्पन ही प्रतिभा, प्रतिभा ही प्रतीति, प्रतीति ही भास, भास ही अध्ययन, अध्ययन ही विज्ञान एवम् विवेक, विज्ञान एवम् विवेक ही दर्शन, दर्शन ही निर्भ्रमता, निर्भ्रमता ही समाधान, समाधान ही आनन्द, आनन्द ही पूर्णता, पूर्णता ही विकास, पूर्ण विकास ही विश्राम तथा विश्रामस्थ इकाई ही पूर्ण शक्त है।

● हर शक्त, प्राप्त शक्ति की अनुभूति करने तक अविश्रान्त पाया जा रहा है।

● गठन रहित इकाई नहीं है। हर गठन में कई अंशों या अंगों का पाया जाना अनिवार्य है।

● हर परमाणु किसी विकासांश में अवस्थित है।

● हर विकासांश में स्थित परमाणु के मध्यांश की 'आत्मा' संज्ञा है, जो मध्यस्थ होने के कारण अन्य अंशों से अधिक शक्त है। मध्यांश मध्यस्थ क्रिया है, जब कि आश्रितांश सम या विषम क्रिया है।

● शक्त को पूर्ण पद या पूर्ण विकास या पूर्ण विश्राम पाने का अवसर है। इसीलिये समस्त प्रयास भी है।

● ज्ञानावस्था की निर्भ्रान्त इकाई पूर्ण विकसित, भ्रान्ताभ्रान्त इकाई पूर्ण विकास के अति निकट तथा भ्रान्त इकाई निकट है।

● रूप, बल, बुद्धि, पद एवम् धन की विषमता से ही मानव में परस्पर स्पर्धा, प्रलोभन, आकांक्षा, उत्साह, अध्ययन, अनुसंधान, संधान, प्रयोग, व्यवसाय और ईर्ष्या, द्वेष, द्रोह, आतंक, हिंसा, छल, कपट, दम्भ तथा पाखंड का भी प्रसव है, जिससे मनुष्य का विकास अथवा ह्रास सिद्ध है।

● सह अस्तित्व से विरोध-दमन, विरोध-दमन से विकास, विकास से सहज जीवन, सहज जीवन से स्वर्गीयता, स्वर्गीयता से व्यापक का दर्शन, व्यापक के दर्शन से कर्तव्य-निष्ठा, कर्तव्य-निष्ठा से सफलता सफलता से विज्ञान एवम् विवेक, विज्ञान एवम् विवेक से स्वचालित जीवन और स्वचालित जीवन से ही सह-अस्तित्व है।

● स्वचालित जीवन मानवीयता का द्योतक है, जो एक स्वतन्त्र जीवन है।

● सह-अस्तित्व ही विरोधाभाव, विरोधाभाव ही विरोध का दमन है और विरोध का दमन ही सह-अस्तित्व है।

● अज्ञान, मृत्यु, अन्धकार और भ्रम यह चार प्रकार की मान्यताएँ मानव विचार में पाई जाती हैं। इन्हें माना जाता है अवश्य, पर इनका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

● मृत्यु, अन्धकार और भ्रम के मूल कारण में भी अज्ञान ही है।

● जो जैसा है, उसको वैसा ही समझने योग्य विकासांश का अभाव ही अज्ञान, पिण्ड की विघटन क्रिया को मृत्यु, किसी इकाई के एक ओर प्रकाश पड़ने पर उसके दूसरी ओर जो उसकी छाया पड़ती है, उसी को अंधकार की संज्ञा है।

● अगोपनीयता एवम् रहस्यहीनता ही यथार्थता है, जिससे ही सहजता की उपलब्धि है।

● गोपनीयता से संकीर्णता का तथा रहस्यपूर्णता से भ्रामकता का प्रसव है।

● अज्ञान, मृत्यु, अन्धकार एवम् भय के वैकल्पिक रूप एवम् गुण की कल्पना ही 'भ्रम' है।

● संकीर्णता तथा रहस्यपूर्णता से मनुष्य ह्रास की ओर गतिमान है, जिसके कारण विरोध, विद्रोह, आतंक आदि सभी अमानवीय गुण जीवित हैं।

● समिष्ट के बल, बुद्धि, रूप, पद एवम् धन से व्यष्टि का बल, बुद्धि, रूप, पद एवम् धन अल्प है, क्योंकि समष्टि की आंशिकता की ही व्यष्टि संज्ञा है।

● इकाई अभिमान-ग्रस्त होने पर वंचना, परिवंचना, आतंक एवम् विग्रह-पूर्वक अनेक के शोषण में प्रवृत्त होती है। साथ ही, उस अभिमान से मुक्त होकर ही विवेक, विज्ञान, स्नेह, सहजता व सह-अस्तित्वपूर्वक एक द्वारा अनेक के पोषण की प्रवृत्ति पाई जाती है तथा पोषण भी होता है।

● शोषणवादी प्रणाली में क्रान्ति तथा पोषणवादी प्रणाली में शान्ति की उपलब्धि है।

● व्यावहारिक एकसूत्रता तथा वैचारिक एकसूत्रता ही पोषणवादी प्रणाली का मूल सूत्र है। अन्याय में शोषण है ही।

● समस्त मानव के लिये विकास के अवसर समान हैं, जिनका सदुपयोग एवम् दुरुपयोग वातावरण, अध्ययन तथा पूर्व-संस्काराधीन है।

● संस्कृति, सभ्यता, कानून एवम् व्यवस्था, यह चार प्रकार

मानव-कृत वातावरण है, जिससे मानवीयता का पोषण अथवा शोषण होता है।

● बौद्धिक समाधान व भौतिक समृद्धि तथा ज्ञान जिस प्रकार के मानवकृत वातावरण से बोधगम्य होता हो, उससे ही मानव के विकास के लिये मार्ग प्रशस्त होता है।

● वर्तमान से पूर्व में की गई क्रिया मात्र की प्रतिक्रिया ही 'संस्कार' है, जो अमानवीयता, मानवीयता तथा अतिमानवीयतापूर्ण भेद से है, जिसके आधार पर ही इकाई की क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता है।

—★—

卐 तेरह

● मानव के लिये मानवीयता ही एक मात्र सुख है। वह हर स्तर का लक्ष्य है अर्थात सुख अमानवीयता, मानवीयता तथा अतिमानवीयता का भी लक्ष्य है।

● मानव ने लाभ द्वारा सुखी होने की कामना की है।

● भाव-भेद से लाभ-भेद, लाभ-भेद से उपयोग-भेद, उपयोग-भेद से अधिकार-भेद, अधिकार-भेद से व्यवस्था-भेद, व्यवस्था-भेद से आय-भेद तथा आय-भेद से भाव-भेद होता है।

● शोषण-पूर्वक प्राप्त आय से एक से अनेक तक सुखी नहीं हैं।

● शोषक का शुष्क होना अनिवार्य है, क्योंकि क्रिया की अनुवर्तीक्रिया समान होती है।

● जब कमाते हैं तब गंवाते नहीं, जब गंवाते हैं तब कमाते नहीं।

● सद्व्यय ही कमाई है और अपव्यय ही गंवाई है। इसीलिये सद्व्यय-पूर्वक ही मनुष्य न्यायपूर्ण आय को पाकर सफल तथा सुखी है, अन्यथा असफल एवम् दुःखी है।

● तन, मन तथा धन का ही व्यय किया जाता है।

● मनुष्य, परिवार, समाज, राष्ट्र एवम् लोक क्रम से अन्योन्याश्रित हैं, जिनका अध्ययन तथा अनुसरण करने का अवसर समस्त मनुष्यों को प्राप्त है।

● मनुष्य, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा लोक, प्राप्त अवसर तथा अनुसरण क्रिया के आवश्यकीय नियमों के पालन द्वारा ही सफल हुए हैं। इसके विपरीत असफल हुए हैं।

● मानवीयतापूर्ण व्यवहार पक्ष का पूर्ण अध्ययन ही मानव-कुल के एकसूत्रता का सूत्र है।

● मनुष्य कोटि तक ऐसी कोई इकाई नहीं हैं, जो किसी का आश्रय न हो, अथवा, जो किसी का आश्रित न हो, इसीलिए क्रिया मात्र अन्योन्याश्रित सिद्ध है। मात्र विचार ही सत्यपूर्ण होने पर स्वतंत्र है, अन्यथा वह भी आसक्ति ही है।

● मानव में अन्योन्याश्रयता, व्यवहार की एकसूत्रता है। एकसूत्रता से सफलता की ओर अन्यथा असफलता की ओर गति है।

● सह-अस्तित्व से विरोधाभाव भी एकसूत्रता ही है। अतः सह-अस्तित्व मानव-जीवन में व्यवहार का लक्ष्य सिद्ध हुआ।

● धर्मपूर्ण विचार तथा न्यायपूर्ण व्यवहार से ही सत्य की अनुभूति सम्भव होती है।

● पराधिक उन्नति के लिए जो प्रवृत्ति एवम् प्रयास है, उसे 'स्पर्धा' तथा इसके विरोध में प्राप्त प्रयास व प्रवृत्ति की 'ईर्ष्या' संज्ञा है।

● स्पर्धा से हर्ष एवम् उत्साह तथा ईर्ष्या से अमर्ष का प्रसव होता है।

● मनुष्य द्वारा अन्तरंग तथा बहिरंग दो प्रकार के व्यवहार होते देखने में आते हैं।

● उक्त दोनों व्यवहार आवश्यकीय नियमों अथवा अनावश्यकीय नियमों के अनुसार ही सम्पन्न होते हैं।

● मूल-प्रवृत्तियों में से पाँच - संग्रह, द्वेष, अविद्या, अभिमान तथा भय युक्त प्रवृत्तियों—से उत्पन्न सम्पूर्ण संवेग बौद्धिक अविकास तथा अपरिष्कृति के द्योतक हैं।

● संग्रह से लोभ, द्वेष से विरोध, अविद्या से अज्ञान, अभिमान से उद्दण्डता और भय से आतंक का जन्म होता है, जो वैचारिक क्लेश है।

● जो स्वयं क्लेशित रहेगा, वह दूसरों को क्लेश पहुंचायेगा ही, क्योंकि यह नियम है कि जिसके पास जो होगा, वह उसे बाँटेगा ही।

● उपरोक्त पाँच अपरिमार्जित प्रवृत्तियों के विरोध में पाँच परिमार्जित मूल प्रवृत्तियाँ भी हैं, जो असंग्रह, स्नेह, विद्या, सरलता तथा अभय हैं। इन प्रवृत्तियों से उत्पन्न सम्पूर्ण संवेग क्रमशः उदारता, निर्विरोध, यथार्थ ज्ञान, सह-अस्तित्व तथा धैर्य को जन्म देते हैं, जिससे हर्ष, प्रसन्नता, उत्साह, तृप्ति, उल्लास तथा आह्लाद की निरन्तरता बनी रहती है, जिसकी अनवरत प्रतीक्षा में मानव है।

● असंग्रह आदि पाँच मूल प्रवृत्तियाँ ही मानवीय प्रवृत्तियाँ हैं, जिससे मानवीयता का संरक्षण होता है। इसके विपरीत संग्रह आदि पाँच अमानवीय मूल प्रवृत्तियाँ हैं।

● बोध से इच्छा (संकल्प), इच्छा से विचार, विचार से आशा, आशा से संवेग, संवेग से क्रिया, क्रिया से अध्ययन तथा अध्ययन से बोध होता है। यह इच्छा तथा क्रिया की क्रम-गति है।

● संग्रह, विचार अपूर्ति से, द्वेष, विचार अपराध व अस्थिरता से, अविद्या, अज्ञान से, अभिमान, उद्दण्डता से तथा भय, आतंक से मुक्त नहीं है, इसीलिये मानव क्लेशित है।

● संग्रह मात्र वस्तुओं का ही है। उत्पादित तथा सम्पादित भेद से वस्तुएँ हैं।

∷ सम्पादन—प्राकृतिक वस्तुओं से उपलब्धि की 'संपादन' संज्ञा है।

∷ उत्पादन—सम्पादित वस्तु को मनाकार (इच्छानुरूप आकार) प्रदान करना ही 'उत्पादन' है।

● वस्तु का संग्रह नहीं है, क्योंकि उसका उपयोग या नाश (रूपान्तरण) दुर्निवार्य है।

∷ द्वेष—दूसरों के नाश में ही स्व-सुख की कल्पना करना 'द्वेष' है ।

★ उपरोक्त वर्णित द्वेषात्मक—वैचारिक क्रिया को घृणा, हिंसा और ईर्ष्या के भेद से पाया जाता है । घृणा, हिंसा और ईर्ष्या सामाजिक भावना, व्यवहार व व्यवस्था में अवरोधक सिद्ध हुआ है । स्व-श्रेष्ठता की तुलना में घृणा, दुर्बलता की तुलना में हिंसा तथा दूसरों के विकास के प्रति ईर्ष्या है, जबकि स्व-श्रेष्ठता के अनुरूप असक्षम को समुचित सहयोग देना ही घृणा के स्थान पर उदारता, अपने को पर-विकासानुरूप पाने का प्रयास ही स्पर्धा है तथा दुर्बल की रक्षा करना ही दया है ।

● हिंसात्मक कार्य व्यक्ति, परिवार, समाज, वर्ग, जाति, मत, सम्प्रदाय, भाषा तथा राष्ट्र के स्तर-भेद से है, जो द्वन्द्व एवम् प्रतिद्वन्द्व के रूप में परिलक्षित होता है ।

● हिंसा की प्रतिहिंसा, द्वन्द्व का प्रतिद्वन्द्व, अपराध का प्रतिकार, अवश्यम्भावी है । अतः द्वेष-कामना किसी भी देश व काल में मानव के विकास के लिये सहायक नहीं सिद्ध हुयी है ।

∷ अविद्या अथवा अज्ञान—जैसा जिसका रूप, गुण, स्वभाव एवम् धर्म है, उसको उसी प्रकार समझने योग्य विकास के अभाव की 'अविद्या' अथवा 'अज्ञान' संज्ञा है ।

∷ अभिमान—स्व-बल, बुद्धि, रूप, पद व धन को श्रेष्ठ तथा अन्य को नेष्ट समझने वाली प्रवृत्ति की 'अभिमान' संज्ञा है ।

● इकाई समष्टि का अंश ही है :

● प्राण-भय, पद-भय, मान-भय तथा धन-भय, यह भय के चार आश्रय भेद हैं । प्राण, पद, मान तथा धन, यह स्थानान्तरण तथा परिवर्तन से मुक्त नहीं हैं ।

∷ प्राण-भय—शरीर के अस्तित्व के विपरीत में जो मृत्यु की कल्पना है, वह 'प्राण-भय' है ।

∷ पद-भय—एक से अनेक तक पाये जाने वाले अधिकार की 'पद' संज्ञा है तथा इसके विरोध में 'पद-भय' संज्ञा है ।

∷ मान-भय—यश के विपरीत में या विरोध में 'मान-भय' की संज्ञा है ।

∷ धन-भय—धन के विरोध की सम्भावना अथवा स्थिति को 'धन-भय' की संज्ञा है ।

∷ उपरोक्त वर्णित चारों उपलब्धियाँ अर्थात प्राण, पद, मान और धन, सामयिक हैं, जिन्हें स्थायी समझ लेना ही संकट का कारण है । क्योंकि प्राण का हरण, पद का पतन या वियोग, मान का भंग तथा धन का व्यय, यह नियतिक्रम सिद्धियां हैं ।

● अतः मानव के लिये परम लाभ मानवीयता का उपार्जन ही है, जिससे मानव सुखी हुआ है ।

卐 चौदह

● मानव व्यवहार में व्यस्त है। मानव के जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्तावस्था के समस्त व्यवहार में चैतन्य का रहना अनिवार्य है।

ஃ चैतन्य—आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवम् अस्तित्व की स्वीकृति के साथ तथा इन पांचों क्रियाओं सहित गठित इकाई की 'चैतन्य' संज्ञा है।

● चैतन्य पक्ष के ह्रास एवम् विकास का कारण संस्कार, रूप एवम् गुण-सम्पन्नता है।

● संस्कार, अध्ययन और कर्माभ्यास से है।

● अध्ययन, जड़, चैतन्य एवम् व्यापक का ही है, और यह विवेक और विज्ञान से ही सम्पन्न होता है।

● विवेकात्मक अध्ययन से आत्मा का अमरत्व, शरीर का नश्वरत्व और व्यवहार के नियमों का बोध होता है। इन तीन बोधों से उत्तरोत्तर सुसंस्कार परिष्कृत होता है।

● व्यावहारिक नियम मानवीयता के संरक्षण के लक्ष्य से हैं।

★ मानवीयता के संरक्षण का लक्ष्य मानवीय दृष्टि, मानवीय गुण और मानवीय विषयानुकूल व्यवहार से सीमित है, जिससे सीमान्त (मानवीयतापूर्ण) व्यवहार-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा प्रचार, प्रदर्शन तथा प्रेरणा, समर्थ समाज से मानवीयतापूर्ण सामाजिक कार्यक्रम, संरक्षण तथा प्रोत्साहन, नीतिपूर्ण शासन व्यवस्था से ही मानवीयता का समग्र संरक्षणात्मक लक्ष्य पूरा हुआ है।

● मानव के बहिरंग व्यवहार के लिये सांस्कृतिक व प्राकृतिक भेद से साधन उपलब्ध हैं। मानव द्वारा की जानेवाली कृति (रीति सहित कार्य) का पूर्व-रूप (विचार की स्थिति) ही संस्कार व संस्कृति का स्तर है।

● संस्कृति रूप, बल, धन एवम् पद के द्वारा प्रस्तुत होती है।

● प्राकृतिक साधन खनिज, वनस्पति तथा मनुष्येतर जीव के जाति-भेद से हैं।

● मनुष्य चैतन्य-वर्ग की विकसित इकाई है, इसीलिये उसे प्राकृतिक-सम्पदा के सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने का अधिकार प्राप्त है। क्योंकि विकसित को अविकसित का उपयोग और उपभोग करने का अधिकार रहता ही है।

● प्राकृतिक सम्पदा का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग ऋतु-सन्तुलन अथवा असंतुलन से सिद्ध होता है।

● हर भूमि पर पाया जाने वाला—ऋतुमान, शीतमान, तापमान और वर्षामान—उस भूमि पर स्थित खनिज एवम् वनस्पति के अनुपात पर निर्भर करता है, जिसका निर्णय परीक्षण एवम् सर्वेक्षण-पूर्वक गणित से सिद्ध होता है।

● सामाजिक संतुलन अथवा असंतुलन स्व-धन/पर-धन, स्व-नारी/पर-नारी तथा दया/द्वेष-युक्त विचार सहित किये गये व्यवहार से सिद्ध होता है।

ஃ स्व-धन—प्रतिफल, पारितोषिक तथा पुरस्कार के रूप में प्राप्त धन की 'स्व-धन' अन्यथा की 'पर-धन' संज्ञा है।

ஃ स्व-नारी—भौगोलिक स्थिति के अनुसार समाज निर्णीत निर्णय के अनुसार ही 'स्व-नारी तथा स्व-पुरुष' की संज्ञा है, अन्यथा 'पर-नारी/पर-पुरुष' की संज्ञा है।

❋ दया—दूसरों के विकास के लिये यथा-संभव सहायक होना तथा उनके विकास में हस्तक्षेप न करना ही 'दया' है। इसके विपरीत में आचरण की 'द्वेष' संज्ञा है।

● जन्म-सिद्ध अधिकार, प्रदत्त अधिकार तथा समयोचित अधिकार-भेद से मनुष्य कर्तव्य-पालन के लिये अधिकार प्राप्त करता है।

● जन्म-सिद्ध अधिकार सम्बन्ध के आश्रय में, प्रदत्त अधिकार, व्यवस्था-गत सीमा के आश्रय में तथा समयोचित अधिकार सम्पर्क के आश्रय में है।

● सम्बन्ध—माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य तथा मित्र के रूप में है।

● प्रदत्त अधिकार—कुटुम्ब, समाज तथा शासन-दत्त भेद से है।

● समयोचित अधिकार समय व समीचीन मिलन के अनुसार व्यवहार में सम्पन्न होता है।

● कुटुम्ब-दत्त अधिकार, कुटुम्ब-दत्त कर्तव्यों के पालन, चरित्र-संरक्षण, प्राण-पोषण व अर्थोपार्जन के लक्ष्य भेद से है।

● समाज-दत्त अधिकार—समाज-दत्त कर्तव्यों के पालन, गरिमापूर्ण व्यक्तित्व एवम् आदर्श सहित शास्त्र प्रचार तथा सिद्धान्तों के अनुसंधान—के आश्रय-भेद से है।

● शासन-दत्त अधिकार—शासन-दत्त कर्तव्यों का पालन, शास्त्र सिद्धान्तों का कुशलतापूर्वक अध्ययन, कर्माभ्यास में परिपूर्णता और अधिकार पूर्ण व्यक्तित्व पर निर्भर करता है, जिससे सफलता है, अन्यथा में असफलता है।

● मानव मात्र में सुख की आशा अपरिवर्तनीय है, जिसकी अपेक्षा में ही विधि व निषेध है।

● सुख एवम् दुःख वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार-नीति पर ही आधारित हैं।

● मानव में व्यवहार-नीति के निर्वाह के लिये छः दृष्टियाँ पूर्व में वर्णित की गई हैं, जिनमें से मानवीय-दृष्टि-सम्पन्न व्यवहार से ही एक से अनेक तक सुखी हैं।

● मानव कर्म करते समय स्वतंत्र और फल भोगते समय परतंत्र होने के कारण ही अमानवीय दृष्टि से सुगमता-पूर्वक व्यवहार कर बैठता है, फलतः दुःख का भागी बनता है, और स्वयं के विकास को अवरुद्ध करता है।

● मानव इस सृष्टि में सर्वोच्च विकासशील इकाई है। इसीलिये मानव में तीनों इतर सृष्टि यथा—पदार्थावस्था, प्राणावस्था एवम् जीवावस्था—के गुण, स्वभाव एवम् धर्म समाविष्ट रहते ही हैं।

● मानव ने बौद्धिक समाधान तथा भौतिक समृद्धि द्वारा सुखी होने की कामना की है।

● भौतिक समृद्धि वैज्ञानिक नियमों के अध्ययन और तदनुसार कर्माभ्यास से ही संभव है, तथा बौद्धिक समाधान विवेकपूर्ण नियमों के अध्ययन एवम् तदनुसार कर्माभ्यास द्वारा अनुभव किया जाता है।

● स्वस्थ व्यवहार के लिये स्वस्थ शरीर का महत्वपूर्ण स्थान है, जो प्राण के विधिवत नियंत्रण से ही संभव है।

● अन्न से प्राण-पोषण, व्यवसाय से समृद्धि, संयम से अपव्यय का निरोध, वैज्ञानिक जानकारी से भौतिक दर्शन, विवेकात्मक जानकारी से बौद्धिक दर्शन, व्यावहारिक जानकारी से समाज दर्शन, अर्थशास्त्र की जानकारी से व्यवस्था का दर्शन तथा पूर्ण समाधान से व्यापकता की अनुभूति है।

● प्राण एक वायु विशेष है, जिससे हृदय क्रिया के लिये प्रेरणा पाता

है। वायु एक से अधिक पदार्थों के संघर्ष से उत्पन्न, वेग व तरंग सहित पदार्थ-राशि है। प्राण के पाँच भेद हैं– (१) प्राण, (२) अपान, (३) व्यान, (४) उदान और (५) समान।

● प्राणवायु जीव के लिये प्रेरणापूर्वक बल-पोषक, अपान वायु अनावश्यक व बल-शोषक, व्यान वायु जीव के लिये स्वेच्छापूर्वक उपयोगात्मक, उदानवायु जीव के लिये संचालनात्मक तथा समानवायु जीव के लिये विकासात्मक है। इन पाँचों वायुओं का सन्तुलन सम्बन्धित इकाई के विचार, आहार, विहार व व्यवहार की रीति, नीति एवम् परिस्थिति पर निर्भर करता है।

● अन्नः—आहार एवम् औषधि के रूप में है।

:: आहार—ग्रहण कर लेने योग्य तत्व जिसमें हों, उसकी 'आहार' संज्ञा है।

:: औषधि—शारीरिक व मानसिक विकृति (रोग) के निराकरण (उपचार) हेतु प्रयुक्त पदार्थ की 'औषधि' संज्ञा है।

:: अन्न—शारीरिक पोषण एवम् परिवर्धन हेतु प्रयुक्त पदार्थ की 'अन्न' संज्ञा है।

● प्राप्त कर्तव्य वांछित, प्रेरित व सूचित भेद से हैं।

● प्राप्त कर्तव्य का निश्चयपूर्वक किया गया मनन, चिन्तन, विचार, चेष्टा, प्रयोग, प्रयास, व्यवसाय व अनुसंधान क्रिया ही 'निष्ठा' है। अन्य शब्दों में निश्चित क्रिया की पूर्णता के लिये पाये जाने वाले वैचारिक व शारीरिक योग की निरंतरता ही 'निष्ठा' है।

● निष्ठा के फलस्वरूप ही अर्थ, समाधान व अनुभूति की उपलब्धियाँ हैं। 'अर्थ' समाज की सम्पत्ति है। सम्पत्ति जड़ पक्ष की ही है और जड़ पक्ष के लिए ही है तथा समाधान और अनुभूति चैतन्य की एवम् चैतन्य के लिए ही है।

● क्रिया से भोग, भोग से गुण, गुण से प्रभाव, प्रभाव से विभव, विभव से विस्तार, विस्तार से अवधि, अवधि से विषमता, विषमता से संघर्ष, संघर्ष से प्रेरणा, प्रेरणा से निर्णय, निर्णय से प्रलोभन, प्रलोभन से संवेग, संवेग से व्यंजना, व्यंजना से गति, गति से ह्रास एवम् विकास, ह्रास एवम् विकास से क्षमता, योग्यता तथा पात्रता और क्षमता, योग्यता, पात्रता से क्रिया है।

● कारण, गुण और गणितानुक्रम न्याय से प्राप्त निर्णय की 'सिद्धान्त' संज्ञा है तथा सिद्धान्त से ही किसी भी क्रिया का बोध होता है।

● काल, विस्तार तथा रचना-भेद की गणना तथा निर्णय गणित से है।

● सम, विषम तथा मध्यस्थ भेद से गुण की प्रक्रिया है।

● घटना के पूर्व-रूप को 'सापेक्ष-कारण' की संज्ञा है।

:: काल—क्रिया की अवधि की 'काल' संज्ञा है।

:: विस्तार—रचना की अवधि की 'विस्तार' संज्ञा है।

:: रचना—पदार्थ की अवधि की 'रचना या वस्तु' संज्ञा है, जिसकी गणना की जाती है।

:: सम—उद्भववादी गुणों की 'सम' संज्ञा है।

:: विषम—प्रलयवादी गुणों की 'विषम' संज्ञा है।

:: मध्यस्थ—विभववादी गुणों की 'मध्यस्थ' संज्ञा है।

★ सम, विषम तथा मध्यस्थ गुणों को ही क्रमशः रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण की संज्ञा से भी जाना जाता है।

● सम्पूर्ण परमाणुओं में पाई जाने वाली क्रिया के लिये प्राप्त सत्ता की 'निरपेक्ष-कारण' संज्ञा है, जिसकी उत्पत्ति-क्रम का ज्ञान वर्तमान तक प्राप्त एवम् सिद्ध नहीं है।

● परमाणु-व्यूहों में परस्पर संघर्ष से जो प्रभाव-विशेष है—क्रिया, प्रतिक्रिया एवम् परिपाक है—उसे 'सापेक्ष कारण' की संज्ञा है।

● अनेक अणु-परमाणुओं से संगठित पिण्ड व उनकी क्रिया को 'स्थूल-क्रिया' और अणु-परमाणविक क्रिया को 'सूक्ष्म-क्रिया' की संज्ञा है।

● गति, कम्पन और तरंग के भेद से सूक्ष्म गतियाँ तथा क्रियाएँ हैं।

● इकाई में कंपन क्रिया बढ़ जाना ही विकास की घटना है, तथा इसके विपरीत में ह्रास की घटना है।

● चैतन्य इकाई में कम्पन की अधिकता ही विशेषता है।

● पारदर्शकता के अंशानुसार चैतन्य इकाई भ्रान्त, भ्रान्ताभ्रान्त तथा निर्भ्रान्त स्थिति में है।

● जड़ता में पारदर्शकता से अंधकार का अभाव, पारिभासकता से अंधकार का आंशिकता में अभाव तथा अपारदर्शकता से अंधकार है।

● चैतन्य इकाई में ज्ञान के पारदर्शी होने के फलस्वरूप अज्ञान का अभाव हो जाता है, जिससे यथार्थ दर्शन होता है, तथा सर्वत्र ज्ञान ही प्रतिष्ठित परिलक्षित होता है। चैतन्य इकाई के विकास की इस सीमा को 'निर्भ्रान्ति अवस्था' कहते हैं।

● चैतन्य इकाई में ज्ञान के पारभासी होने के फलस्वरूप अज्ञान का पूर्ण अभाव नहीं होता, पर साथ ही साथ ज्ञान का भास होने लगता है, जिससे कभी-कभी यथार्थ का भास भी होता है, तथा कभी-कभी अतिव्याप्ति, अव्याप्ति अथवा अनाव्याप्ति दोष सहित दर्शन होने लगता है, जिसे 'भ्रान्ता-भ्रान्त' अवस्था कहते हैं।

● चैतन्य इकाई में ज्ञान के अपारदर्शी होने के फलस्वरूप ही अज्ञान पूर्णतः बना रहता है, अर्थात् अतिव्याप्ति, अव्याप्ति या अनाव्याप्ति दोष सहित ही दर्शन होता है, जिसे 'भ्रान्त' अवस्था कहते हैं।

∷ अतिव्याप्ति—जो जैसा है, उससे अधिक समझना।

∷ अव्याप्ति—जो जैसा है, उसे वैसा न समझना।

∷ अनाव्याप्ति—जो जैसा है, उसे उससे कम समझना।

● विकास की परिपूर्णता पारदर्शकता से ही सिद्ध होती है। पदार्थ के लिए यह विकास प्रकाश की पारदर्शकता से तथा पदार्थ की विकसित इकाई के लिए यह विकास ज्ञान की पारदर्शकता से सिद्ध होता है।

● आकार, प्रकार, श्वास, प्रश्वास, आस्वादन तथा उत्पादन के एक-सूत्रात्मक तथा विश्रृङ्खलात्मक भेद से ही क्रियाएँ परिलक्षित होती हैं।

● मनाकृति, तथा कल्पनात्मक गति की सम्मिलित क्रिया 'आसक्ति' है, जिसमें आकर्षण या प्रतिकर्षण समाविष्ट रहता है।

● आकर्षण तथा प्रत्याकर्षण से कम्पन है।

● प्रत्याकर्षण और आकर्षण से वर्तुलात्मक गति है।

● कम्पन-प्रदत्त तरंग से ज्ञान का उद्घाटन होता है।

● गति-प्रदत्त तरंग से क्रिया सम्पादित होती है।

● प्राण और मन के कम्पन (विवशतापूर्ण आघात) के परस्पर आघात से सम्वेग है, अथवा, इसे ऐसा समझें कि सम्वेग मन के प्रभाव से सम्पन्न प्राणवायु-तरंग है, जिससे इन्द्रिय-ज्ञान या क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।

● हर क्रिया से प्राप्त जो जानकारी पक्ष है, वह मन का है, जिसके लिए विह्वलता-पूर्वक की गई क्रिया के बदले में पाई गई उपलब्धियाँ, सुख एवम् दुःख है।

● मनाकृति से ही कृति, कृति से ही आकृति, आकृति से ही सुकृति अथवा दुष्कृति, सुकृति अथवा दुष्कृति से ही आसक्ति, आसक्ति से सम्वेग, सम्वेग से प्रीति, प्रीति से परिस्थिति, परिस्थिति से विवशता, विवशता से योग, योग से रति, रति से रत्यात्मक रति तथा विरत्यात्मक विरति, विरति से वियोग तथा वियोग से मनाकृतियाँ हैं। चैतन्य इकाई पूर्ण निर्भ्रमता या निर्भ्रान्ति अवस्था प्राप्त होने तक उपरोक्त वर्णित क्रम-चक्र से विवश है।

:: कृति—विचारानुरूप की गई क्रिया की 'कृति' संज्ञा है।

:: आकृति—क्रिया द्वारा अनेक अणु-परमाणु समूहों के संगठित रूप की 'आकृति' संज्ञा है।

:: सुकृति एवम् दुष्कृति—आकृति द्वारा विचारपूर्वक किये गये कर्म की 'सुकृति एवम् दुष्कृति' संज्ञा है।

:: मानवीयतापूर्ण तथा अतिमानवीयतापूर्ण विचारों के अनुरूप कार्य की 'सुकृति' तथा अमानवीयतापूर्ण विचारों के अनुरूप किये गये कार्य की 'दुष्कृति' संज्ञा है।

:: आसक्ति—क्रिया के लिये जो आकर्षण है, उसकी 'आसक्ति' संज्ञा है।

:: सम्वेग—आसक्ति के प्रति उत्कण्ठा की 'सम्वेग' संज्ञा है।

:: प्रीति—सम्वेगपूर्ण समझ की 'प्रीति' संज्ञा है।

:: परिस्थिति—प्रीति से युक्त मानसिक तथा शारीरिक अवस्था की 'परिस्थिति' संज्ञा है।

:: विवशता—स्वयम् की इच्छा न रहते हुये भी परिस्थिति-वश जो क्रिया है, उसे 'विवशता' की संज्ञा है। विवशता अनुकूल तथा प्रतिकूल भेद से है।

:: योग—स्वयम् में जिसका अभाव हो या अभाव प्रतीत होता

हो, दूसरे में उसी की समृद्धि (स्वभाव) हो, ऐसे उभय-सान्निध्य की 'योग' संज्ञा है।

:: रति—उपरोक्तानुसार प्राप्त उभय-सान्निध्य, मध्यस्थ-आकर्षण एवम् प्रत्याकर्षण के प्रबल वेग की 'रति' संज्ञा है।

:: रत्यात्मक रति—रति की निरंतरता से 'रत्यात्मक रति' है।

:: विरत्यात्मक रति—रति की निरन्तरता जिसमें नहीं है।

:: वियोग—रति-खण्डन की 'वियोग' संज्ञा है।

:: मनाकृति—वियोग से प्राप्त जानकारी सहित पुनर्कल्पना की 'मनाकृति' संज्ञा है।

● विचार के अभाव में रति-क्रिया सिद्ध नहीं है।

● जड़ के साथ रति-क्रिया क्षणिक तथा अस्थाई, वैचारिक-रति दीर्घकालिक तथा सत्य-रति नित्यकालिक है, जो केवल अनुभव और समाधि है।

● मृदा, पाषाण, मणि और धातु व उसके विकार को 'पदार्थाकार', वनस्पति में पाई जाने वाली जीवनी शक्ति को 'प्राणाकार', पशु-पक्षी में पाई जाने वाली आशा को 'जीवाकार' और मनुष्य में पाई जाने वाली क्रिया-मात्र के प्रति-दर्शन योग्य क्षमता-सम्पन्न मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि को 'ज्ञानाकार' की संज्ञा है।

● मूल्यांकन-प्रक्रिया की 'भाव-क्रिया' संज्ञा है, जो यथार्थ एवम् अयथार्थ भेद से व्यवहृत है, जिसका कारण मूल्यांकन करने वाली इकाई के विकास का स्तर ही है।

● पूर्ण विकास से ही पूर्ण जानकारी सहित पूर्ण मूल्यांकन संभव है अन्यथा अवमूल्यन या अधिमूल्यन ही होगा।

● मानव अपने विकास के स्तर से तथा उसके अनुरूप ही मूल्यांकन-क्रिया करता है।

● हृदय, मन, वृत्ति, चित्त तथा बुद्धि इन पाँच इन्द्रियों से सम्बन्धित विषयों के प्रति जो आसक्ति या अनासक्ति है, उसी के आधार पर ही मानव जीवन की अवस्था का निर्णय है।

● हृदय विषयग्राही, मन रसग्राही, वृत्ति तत्व-ग्राही, चित्त गुणग्राही तथा बुद्धि सत्यग्राही इन्द्रिय है और आत्मा पूर्ण 'अलिप्त तत्व' है।

● आहार, निद्रा, भय एवम् मैथुन यह चार विषय हृदय का, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले आस्वादन में जो सुख व दुःख पक्ष है वह मन का, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य निर्णय वृत्ति का, रूप, गुण, स्वभाव मात्र का तथा सम, विषम, मध्यस्थ ज्ञान का चित्र ग्रहण व चित्र रचना चित्त का और काल, क्रिया तथा सत्य का बोध ही बुद्धि का विषय है।

● शरीर की हर क्रिया और व्यवहार-समुच्चय विचार-पक्ष के योग से ही है, जिसके लिये पंचेन्द्रियाँ माध्यम हैं।

● मानव ने अपनी सफलता का प्रयास स्वार्थ, परार्थ तथा परमार्थ मात्र से किया है।

● प्राण का विषय हृदय, हृदय का विषय इन्द्रिय तथा इन्द्रिय का विषय व्यवहार (कर्म) व भोग है।

● शरीर, हृदय एवम् प्राण समूह को 'स्थूल पिण्ड' या 'स्थूल शरीर', मन, वृत्ति एवम् चित्त को 'सूक्ष्म शरीर' और बुद्धि एवम् आत्मा को 'कारण शरीर' की संज्ञा है।

● बुद्धि द्वारा बोध की क्रिया आत्माभिमुख या आत्मविमुख होकर सम्पादित होती है।

● आत्मा से विमुख बुद्धि ही 'अहंकार' है।

● आत्मा के संकेत-ग्रहण से वंचित रहना ही 'आत्मविमुखता' है।

● कारण एवम् सूक्ष्म शरीर के अनुसार इच्छाएँ हैं, तथा सूक्ष्म एवम् स्थूल शरीर के अनुसार क्रियाएँ हैं।

● स्थूल पिण्ड का योग सूक्ष्म से प्राण के द्वारा है।

● सूक्ष्म एवम् कारण शरीर का योग चित्त के द्वारा है।

● आत्मा अनवरत ज्ञान से ओतप्रोत है ही।

● विषय-वासना वश मनुष्य में संघर्ष है, तथा ईषणात्रय में आसक्ति वश स्पर्धा व ईर्ष्या मनुष्य के संघर्ष के मूल में हैं। स्पर्धा के मूल में अध्ययन व प्रयोग है, जिससे ही विकास संभव हुआ है।

● ईर्ष्या तथा द्वेष के मूल में विकासावरोध है और ह्रास की ओर गति है।

● संकीर्णता में प्रयुक्त अर्थ की 'स्वार्थ', विशालता में प्रयोजित अर्थ की 'परमार्थ' तथा व्यापकता की अनुभूति की 'व्यापक' संज्ञा है।

● बल, धन, पद तथा यश के भेद से उपलब्धियाँ (लाभ) हैं। विज्ञान एवम् विवेक के भेद से अध्ययन है, जो बुद्धि की क्रिया है। रूप जन्म-सिद्ध है ही।

● पात्र एवम् कुपात्र को प्रदत्त पद एवम् अधिकार-भेद से नियोजन है।

● संघर्ष व उत्पादन-भेद से बल की प्रयुक्ति है।

● उपयोग, उपभोग तथा उत्पादन-भेद से अर्थ का नियोजन है।

● सुयश एवम् अपयश के भेद से यश है।

● लोक एवम् लोकेश-भेद से लक्ष्य है।

● एक मनुष्य से अनन्त मनुष्य तक किए गए समस्त व्यवहारों से समस्या या समाधान की ही उपलब्धि है ।

● हृदय तृप्ति के लिए, प्राण बल के लिए, मन सुख के लिए, वृत्ति शान्ति के लिए, चित्त सन्तोष के लिए, बुद्धि आनन्द के लिये आतुर, कातर, आकांक्षित एवम् प्रतीक्षित है ।

● आत्मा इन सबसे पहले से ही पूर्णानुभूति से, पूर्णतया परमानन्द से, परिपूर्ण हो जाता है ।

● आत्मा (स्व-स्वरूप) पूर्ण, मध्यस्थ, विशेषज्ञ व नित्य शान्त है, इसीलिए उसमें या उस पर सम या विषम का आक्रमण सिद्ध नहीं होता है ।

● आत्म-तत्व (स्व-स्वरूप) को साम्य-सत्ता अनवरत सुलभ एवम् एक सी प्राप्त है, जिसको वह अनुभव करने में सक्षम है, इसीलिए आत्मा में विकार अर्थात् सम-विषमात्मक क्रियाएँ नहीं पाई जातीं । विकार और विषमता अपेक्षाकृत परिमाण, क्रिया एवम् सम विषम शक्ति में ही पाए जाते हैं ।

● मन के पूर्वापर प्रभाव व दबाव भेद से आसक्ति व विवशता पाई जाती है, जिसके अनुसार ही 'क्रिया-प्रतिक्रिया' सम्पन्न होती है ।

● अनुक्रम से प्राप्त जानकारी की 'अनुभव' संज्ञा है ।

:: अनुक्रम – क्रिया-प्रक्रिया के पूर्ण चक्र को 'अनुक्रम' की संज्ञा है ।

● मन से पूर्ण अर्थात वृत्ति, चित्त, बुद्धि एवम् आत्मा से प्राप्त प्रेरणा को 'पूर्वानुक्रम' तथा प्राण से प्राप्त दबाव को 'विवशता' की संज्ञा है । पूर्वानुक्रम एवम् विवशता भेद के आधार पर ही मानवीय एवम् अमानवीय व्यवहार का वर्गीकरण है ।

● मन जब क्रम से प्राण, हृदय, शरीर तथा व्यवहार से दबाव पाता है, तब इसे 'परानुक्रम' की संज्ञा है । परानुक्रम से प्राप्त दबाव के कारण चयन भी तदनुसार होता है ।

● मन प्राण से मिलकर बल का, प्राण हृदय से मिलकर तृप्ति का, हृदय शरीर के द्वारा मिलकर विषयों का, सेवन करने में व्यस्त है, जिसकी पूर्ति नहीं है । इसीलिये मानव ने वर्णित क्रिया-सीमान्त तक व्यस्तता एवम् श्रम का आभास किया है ।

● पूर्वानुशासित स्थिति में मन एवम् वृत्ति की निर्विरोधता के फलस्वरूप ही सुख की अनुभूति उपलब्ध होती है । वृत्ति व चित्त की निर्विरोधता में सन्तोष की, चित्त व बुद्धि की निर्विरोधता में आनन्द की अनुभूति उपलब्ध होती है ।

● मनाकार-भेद से आसक्ति, आसक्ति-भेद से अवस्था, अवस्था-भेद से लक्ष्य, लक्ष्य-भेद से नियन्त्रण, नियन्त्रण-भेद से नीति, नीति-भेद से निष्ठा, निष्ठा-भेद से आशय, तथा आशय-भेद से मनाकार, साकार होता है ।

● क्रिया मात्र को जानने में जो अपूर्णता है, वह रहस्य है ।

● रहस्यता का निवारण मात्र यथार्थ दर्शन से ही है ।

● यथार्थ दर्शन से 'निश्चय' है, अन्यथा अनिश्चयवादी प्रवृत्ति के कारण संशय बना ही रहता है ।

● विचार तथा क्रिया का परिपूर्ण ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है ।

:: परिपूर्ण ज्ञान—क्रिया के नियम एवम् प्रक्रिया की जानकारी, विचार के कारण, तथा नियम की जानकारी को 'परिपूर्ण ज्ञान' की संज्ञा है ।

● परिपूर्ण ज्ञान मात्र विज्ञान एवम् विवेक के अध्ययन से ही सम्पन्न होता है, जिसमें पारंगत होने पर एक से अनन्त तक का जीवन सफल है ।

● प्रतिक्रिया-परिपाक-न्याय से क्रिया तथा गुण-प्रभाव-परिपाक से विचार का निर्णय होता है।

● पदार्थ, वनस्पति, जीव एवम् मनुष्यों में पाई जाने वाली घटनाएँ क्रमशः परिणामकृत, ऋतुक्रम, विषयक्रम तथा ईषणाक्रम से ही होती हैं।

● सापेक्षता, दृष्टि, दृश्य और दर्शन के भेद से है।

● द्रष्टा, महत्‌तत्व, पुरुष, केन्द्रीय, स्वस्वरूप, अधिष्ठान, पूर्ण, सहज, सर्वज्ञ, आत्मा, यह सब एक ही की पर्यायवाची संज्ञाएँ हैं। इन सब संज्ञाओं से सम्बोधित या निर्देशित एक ही तत्व है, वह परमाणु का मध्यांश है।

● प्रकृति से ही वस्तु, वनस्पति तथा विषय की प्रेरणा, कल्पना, क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रभाव, व्यंजना, क्रान्ति तथा ग्लानि जैसी परिपाकात्मक प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं।

● समस्त पदार्थ परिणाम-घटना-क्रम से, समस्त वनस्पति ऋतु-घटना-क्रम से, समस्त जीव विषय-घटना-क्रम से तथा समस्त मानव जीवन विचार-घटना-क्रम से व्यस्त है।

● प्रतिक्रान्ति से भ्रान्ति तथा कर्तव्य से शान्ति है।

● मध्यस्थ, केन्द्रीय होने के कारण ही ज्ञान का स्पर्श सर्वतोमुखी रूप में प्राप्त करता है, इसीलिये मध्यस्थ-क्रिया पाई जाती है। साथ ही बुद्धि, चित्त, वृत्ति व मन में, क्रम से आत्मा के आश्रितांश होने के कारण ही' श्रमाधिक्य सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि यह सब सम या विषम क्रिया के रूप में हैं। आत्मा की मध्यस्थता, मात्र व्यावहारिक व वैचारिक एकसूत्रता से ही है।

● विहित विषयों से मोह तथा अविहित विषयों से क्षोभ का प्रसव होता है।

:: मोह से तात्पर्य है, दूसरों के प्रभाव में स्वयम् का खो

जाना। विषमतापूर्ण विचार ही क्षोभ है। क्षोभ का तात्पर्य दूसरों के प्रभाव से क्षुब्ध हो जाना ही है, अथवा, अपने व्यवहार से दूसरों को क्षुब्ध करना ही है।

● रूप, बल एवम् बुद्धि का विकास आहार, विहार व व्यवहार की संयमता पर है।

● विधिवत लोक सेवन से "प्रेय" और लोकेशानुभूति से "श्रेय" सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं।

● बदलने वाली दृष्टि की 'अनित्य दृष्टि' संज्ञा है। ये प्रियाप्रिय, हिताहित व लाभालाभ दृष्टियाँ हैं। न बदलने वाली दृष्टि की 'नित्य दृष्टि' संज्ञा है, ये न्यायान्याय, धर्माधर्म व सत्यासत्य दृष्टियाँ हैं। बदलने वाली दृष्टि से क्षोभ होना अनिवार्य एवम् स्वाभाविक है।

● सत्य निरूपण कला की 'पूर्ण कला' तथा इससे भिन्न की 'अपूर्ण कला' संज्ञा है।

● न्याय से पद, उदारता से धन, दया से बल, सच्चरित्रता से रूप तथा विज्ञान व विवेक से बुद्धि, निष्ठा से अध्ययन, कर्तव्य से सेवा, संतोष से तप, स्नेह से लोक, प्रेम से लोकेश, आज्ञा पालन से रोगी एवम् बालक की सफलता एवम् कल्याण सिद्ध है।

—★—

卐 पन्द्रह

● मानव जीवन न्याय तथा अवसर के आश्रय से व्यवस्थित है।

⁂ आश्रय—जिससे जिसका अस्तित्व या व्यवहार नियंत्रित है, वह उसका 'आश्रय' है।

● आश्रित के आश्रय पाने के नियम की 'नियंत्रण' संज्ञा है।

● न्यायाश्रित मनुष्य मात्र सत्यासत्य, धर्माधर्म तथा न्यायान्याय के ज्ञाता, व्यावहारिक एकसूत्रता स्थापित करने में निपुण व निर्दोष जीवन में रत रहते हैं, जिससे ही मानवीयता संरक्षित है।

● अवसरवादी मनुष्य प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ के ज्ञाता तथा व्यवहार कुशल होते हैं, जिनसे असंतुष्टि, व्याकुलता व अनिश्चयता की पीड़ा ही उपलब्ध होती है, क्योंकि अज्ञान की मान्यताएं शीघ्र परिवर्तनशील हैं। अवसरवादी मनुष्य के कर्तव्य का लक्ष्य भी सुख है, पर वह इस प्रणाली से सफल नहीं होता।

● पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में क्लेश, कलह व आतंक उत्पन्न करने वाली समस्त प्रवृत्ति को 'सदोष विचार' या 'अवसरवादी विचार' और हर्ष, उत्साह, सह-अस्तित्व, निर्भ्रमता को उत्पन्न करने वाले कार्य एवम् विचार को 'निर्दोष विचार' या 'न्यायवादी विचार' की संज्ञा है।

● क्लेश, कलह व आतंक का कारण केवल संग्रह, द्वेष, अज्ञान अभिमान एवम् भय है।

● अवसरवादी विचार या सदोष विचार—व्यवहार, हृदय, प्राण, मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि के परस्पर विरोधी विचार—को कहते हैं, जिससे क्षोभ, खेद, तृष्णा, दुःख, अशांति तथा असंतोष की प्रतीति होती है।

● व्यवहार व हृदय के परस्पर विरोध से क्षोभ, हृदय व प्राण के परस्पर विरोध से खेद, प्राण व मन के परस्पर विरोध से तृषा, मन व वृत्ति के परस्पर विरोध से दुःख का, वृत्ति व चित्त के परस्पर विरोध से अशांति, चित्त व बुद्धि के परस्पर विरोध से असंतोष तथा बुद्धि के आत्मविमुख होने से अनानन्द अर्थात् समस्या की ही उपलब्धि है।

● व्यवहार, शरीर, हृदय व प्राण मनाश्रित हैं। फलतः मनः स्थिति क्रम से प्राण, हृदय व कर्म के आकार से कृति-आकृति होती है। मन ही मेधस् पर प्रभावपूर्वक आशानुरूप आकार का संकेत करता है तथा बदले में सुखास्वादन चाहता है।

● व्यवहार व हृदय, हृदय व प्राण, प्राण व मन, वृत्ति व मन तथा विरोध व निर्विरोध का प्रभाव मन पर ही है, क्योंकि मन ही रसास्वादन करने वाला सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय है। फलतः मन ही व्यवहार, हृदय, प्राण, वृत्ति, विरोधपूर्ण या निर्विरोध प्राप्त सुख व दुःख का भोक्ता भी है।

● कारण-पिण्ड के अनुकूल सूक्ष्म, सूक्ष्म पिण्ड के अनुकूल स्थूल व्यवहार-क्रम से विकास तथा फलस्वरूप समृद्धि व समाधान तथा इसके विपरीत क्रम से ह्रास तथा फलस्वरूप असमृद्धि व समस्या है।

⁂ कारण पिण्ड—आत्मा एवम् बुद्धि का सम्मिलित स्वरूप 'कारण पिण्ड' है।

⁂ सूक्ष्म पिण्ड—चित्त, वृत्ति व मन के सम्मिलित स्वरूप की 'सूक्ष्म पिण्ड' संज्ञा है।

⁂ स्थूल पिण्ड—पंचेन्द्रियों से युक्त काया समूह की 'स्थूल पिण्ड' संज्ञा है।

● कारण पिण्ड के बिना सूक्ष्म पिण्ड तथा कारण व सूक्ष्म पिण्ड के बिना स्थूल पिण्ड का अस्तित्व नहीं है।

● मानव सम्पर्क व सम्बन्ध में क्षोभ, विरोध व कठोरता का प्रसव, क्रिया

में क्षोभ से असमृद्धि व अभाव का प्रसव, शरीर क्षोभ से रोग व क्षीणता का प्रसव, प्राण क्षोभ से उद्विग्नता व निरुत्साह का प्रसव, मनः क्षोभ से अ-सह-अस्तित्व व दुःख का प्रसव, वृत्ति क्षोभ से आलस्य, प्रमाद व अशान्ति का प्रसव, चित्त क्षोभ से कृत्रिमता (दिखावा), रहस्यता व असन्तोष का प्रसव, बुद्धि क्षोभ से भ्रान्ति, अज्ञान, अभिमान व कृतघ्नता का प्रसव अनिवार्य रूप से होता है। अवसरवादी व्यवहार ही क्षोभ का कारण है।

● अवसरवादिता के शीघ्र परिणामवादी होने के कारण इसके व्यवहार में एक-सूत्रता का अभाव रहता है। एकसूत्रता के अभाव में आत्मोन्मुख बुद्धि न होने से बुद्धि-क्षोभ, बुद्धि अनुयायी चित्त न होने से चित्त क्षोभ, चित्त अनुयायी वृत्ति न होने के वृत्ति-क्षोभ, वृत्ति अनुयायी मन न होने से मनः क्षोभ, मनोनुकूल प्राण, हृदय, शरीर व क्रिया न होने से सम्पर्कात्मक व सम्बन्धात्मक व्यवहार में मनः क्षोभ का होना आवश्यक है।

● बुद्धि (अंहकार) क्षुब्ध मनुष्य अपने ज्ञान को श्रेष्ठ, चित्त-क्षुब्ध मनुष्य अपने तर्क को श्रेष्ठ, वृत्ति-क्षुब्ध मनुष्य अपने कार्य को श्रेष्ठ समझता है। फलस्वरूप ही वादविवाद उत्पन्न होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि अवसरवादिता ही वादविवाद का मूल कारण है।

● वादविवाद के लिए दोनों पक्षों का अथवा एक पक्ष का गलत (भ्रम में) रहना आवश्यक है, क्योंकि दोनों पक्ष सही हों और वादविवाद हो ऐसा सम्भव नहीं है।

● अवसरवादी व्यवहार का मूल कारण बुद्धि का अथवा विज्ञानमय कोष का पूर्ण विकसित न होना है। बौद्धिक जागरण अथवा विज्ञानमय कोष का विकासक्रम निम्नानुसार है :—

● कोष-भेद से (बौद्धिक जागरण-भेद से) बीज-भेद, बीज-भेद से यन्त्रीकरण-भेद, यन्त्रीकरण-भेद से विकासभेद, विकास-भेद से संगठन विघटन-भेद, संगठन विघटन-भेद से वर्ग-भेद, वर्ग-भेद से स्वभाव-भेद, स्वभाव-भेद से जाति-भेद, जातिभेद से क्रिया-भेद और क्रिया-भेद से कोष-भेद अथवा बौद्धिक जागरण-भेद है।

★ विज्ञानमय-कोष के विकसित न होने से ही भ्रम तथा अज्ञान है, जो अवसरवादिता का पोषक है। भ्रम व अज्ञान के बिना गलती सम्भव नहीं है। चैतन्य इकाई की अपारदर्शकता ही अज्ञान है। अपारदर्शकता का फल ही है विकासवादी नियमों की जानकारी न होना तथा फलस्वरूप ही अवसरवादिता है।

★ मनुष्येतर समस्त जीव मात्र कर्म करते तथा फल भोगते समय में परतंत्र हैं, क्योंकि इनमें विज्ञानमय-कोष का अभाव रहता है। मानव विज्ञानमय कोष के ही कारण कर्म करने में स्वतंत्र है, पर फल भोगते समय परतंत्र है। फल भोगते समय परतत्रंता इसलिए है कि क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है।

★ विज्ञानमय-कोष के कारण ही मानव ने कारण, गुण व गणित के द्वारा व्यष्टि व समष्टि का, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-तत्व की जानकारी प्राप्त किया तथा तद्नुसार व्यवहार भी किया और इसी कारण से वह व्यापक सत्ता की अनुभूति करने में भी समर्थ हुआ। यह सब विज्ञानमय-कोष के विकास के कारण ही संभव हुआ है। विकसित विज्ञानमय-कोष-युक्त मानव का समस्त व्यवहार न्यायाश्रित होकर एक से अनेक तक के लिए सुख-कारक ही हुआ है।

★ कार्य करने की स्वतंत्रता के कारण ही मानव को न्यायान्याय, धर्माधर्म सत्य-असत्यात्मक विचार, इच्छा, संकल्प-पूर्वक व्यवहार विचार एवम् अनुभव करने का अवसर प्राप्त है।

★ जड़ सृष्टि में बीज, परिणाम एवम् प्राण के भेद से और चैतन्य जीवन में बीज, आशा व इच्छा के रूप में अथवा संस्कारों के रूप में विद्यमान रहता है। मानव में बीज संस्कारों के रूप में, मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि में सीमित पाया जाता है, क्योंकि हर व्यक्ति के बौद्धिक स्तर में अन्तर है। बौद्धिक क्षमता का [illegible] ही मानव क्रिया-कलाप में वैविध्यता का मूल कारण है।

बौद्धिक वैविध्यता के कारण ही मानव न्यायवादी तथा अवसरवादी व्यवहार अपने विकास के अनुसार अपनाता है।

● बीज मात्र उद्भव के अनन्तर प्रलय (बीज) की ओर तथा प्रलय (बीज) के अनन्तर उद्भव की ओर गतिमान है।

● बुद्धि में प्राप्त अवधारणाएं (संस्कार) क्रम से विचार व क्रिया में अभिव्यक्त होती हैं, और क्रिया से प्राप्त विचार पुनः अनुमान सहित अवधारणा (संस्कार) में स्थित होते हैं।

● अवधारणा में तब तक परिवर्तन होता रहेगा जब तक वह धारणा के अनुरूप न हो जाय।

● समस्त सृष्टि की धारणा मात्र 'विश्राम' ही है। समस्त श्रम जो है, वह विश्राम के लिए ही है।

● विश्राम योग्य अवधारणा मात्र न्याय-पूर्ण व्यवहार से, धर्म-पूर्ण विचार से तथा सत्य की अनुभूति से ही सम्भव है।

● सत्य के आश्रय में धर्म तथा न्याय है ही।

● न्यायाश्रित मानवीय इकाई (व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवम् विश्व) द्वारा सम्पादित समस्त क्रिया तथा व्यवहार मात्र सुकृत परिणाम, परिपाक-फल हेतुक ही है, जिससे ही समाधान एवम् सह-अस्तित्व सिद्ध होता है।

● न्यायाश्रित व्यवहार-सम्पन्न समाज में मानवीयता तथा अतिमानवीयता की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

● उसके विपरीत अवसरवादी व्यवहार से भ्रम एवम् अज्ञान की ही उपलब्धि है, जिससे अमानवीयता का प्रादुर्भाव होता है।

● लघु मौलिकता से गुरु मौलिकता की ओर प्रगति की 'सुकृत' और गुरु

मौलिकता से लघु मौलिकता की ओर गति को 'विकृत' परिणाम, परिपाक एवम् फल 'हेतुक' की संज्ञा है।

● मानवीय व्यवहार की दृष्टि, गुण एवम् विषय के आधार पर सामाजिकता का निम्नानुसार वर्गीकरण किया गया है:—

(१) मानवीयता,

(२) अतिमानवीयता

(३) अमानवीयता।

★ मानवीयता की पोषक दृष्टि, गुण, व विषय वाली इकाई को 'मानव' की संज्ञा है। अतिमानवीयता की पोषक दृष्टि गुण व विषय वाली इकाई को दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है-(१) देव मानव और (२) दिव्य मानव। अमानवीयता की पोषक दृष्टि गुण व विषय वाली इकाईयों को भी दो श्रेणी में बांटा गया है- (१) पशु मानव और (२) राक्षस मानव।

● मानव विकसित, अतिमानव पूर्ण विकसित तथा अमानव अविकसित इकाई है।

● शोषण तथा पोषण भेद से ही मनुष्य गुरु-मूल्यन व लघु-मूल्यन प्रक्रिया को सम्पन्न करता है, जो विकास तथा ह्रास के रूप में परिलक्षित होती है।

● लघुत्व का गुरुत्व पर, संकीर्णत्व का व्यापकत्व पर, अल्पत्व का बृहदत्व पर, व्यष्टित्व का समष्टित्व पर, दुर्बल का सबल पर, अक्षम का सक्षम पर, अनाधिकारी का अधिकारी पर आक्रमणपूर्वक अधिकार पाने का प्रयास सफल होते सिद्ध नहीं होता। तदनुसार अवसरवादिता न्यायवादिता पर सफल और सिद्ध नहीं है और न होगी।

● एक का अनेक द्वारा तथा अनेक का एक द्वारा अनुसरण एवम् अनुकूलता केवल न्याय-पूर्वक किए गए व्यवहार से ही सफल है, अन्यथा असफल है।

समाधान का निर्भ्रान्त स्वरूप से अध्ययन किए हुए व्यक्ति की 'विद्वान' संज्ञा है।

❖ विचारक—मानवीयतापूर्ण आचरण सहित मानव की परस्परता के मध्य में पाये जाने वाली विषमता को समापहरण करने योग्य समाधान को प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को 'विचारक' की संज्ञा है।

❖ प्रचारक—नैतिकता का, कलापूर्ण ढंग से लोक जन-मानस में, विश्वास उत्पन्न करने वाले को 'प्रचारक' की संज्ञा है।

❖ प्रजा—नियम का पालन करने वाली प्रजा को 'सभ्य प्रजा' की संज्ञा है।

● विचारक तथा विद्वान ही प्रचारक हो सकते हैं।

● शासक के विचारक तथा विचारक के शासक बनने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि शासन करते समय मनुष्य को व्यापक विचार करने का तथा विचार करते समय शासन करने का अवकाश व अवसर उपलब्ध नहीं है।

● जब व्यक्ति व्यापक एवम् समाधान-पूर्ण स्तर पर अपने वैचारिक जीवन की प्रतिष्ठा योग्य क्षमता योग्यता एवम् पात्रता को अर्जित कर लेता है; तब वह व्यवहार पक्ष की समस्याओं के समाधान से युक्त हो जाता है तथा यही इनकी तृप्ति भी है। ऐसे व्यक्ति में क्षोभ का अभाव हो जाता है। फलस्वरूप अवसरवादी विचारों के इस माध्यम से प्रसव का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

★ न्याय-पूर्ण व्यवहार को स्वीकारने का अर्थ ही समाधान की उपलब्धि के लिये प्रयास एवम् प्रयोगरत होना है। न्यायपूर्ण व्यवहार से समाधान की उपलब्धि निम्न क्रम से होती है—

× मनुष्य द्वारा की जाने वाली समस्त क्रियाएँ

विचाराश्रित हैं। अतः वैचारिक निपुणता से ही क्रिया की निपुणता, वैचारिक शिष्टता से ही व्यावहारिक कुशलता, व्यावहारिक कुशलता से ही वैचारिक पारंगत्व, वैचारिक पारंगत्व से ही भाव का शिष्ट भाषाकरण संभव है। यथार्थता का अध्ययन ही वैचारिक समाधान है तथा सत्यानुभूति ही आनन्द है, जो सफलता की पराकाष्ठा है।

● समस्त व्यवसाय मात्र समृद्धि की वांछा से, समस्त व्यवहार परि-मार्जित मानव समाज के पोषण की मूल भावना से, मानवीयता-सम्पन्न समस्त भावपूर्ण भाषा-प्रसारण-क्रिया को मानव के अभ्युदय एवम् विकास की कामना से सत्यता की 'अनुभूति व अध्ययन' मानव ने विश्राम की आकांक्षा से किया है। विश्राम ही समाधान है।

● उत्पादन से अधिक उपभोग, प्रयास एवम् प्रवृत्ति, समाज-शोषक सिद्ध है, तथा मात्र अवसरवादिता से ही सफल है, अन्यथा न्यायवादी व्यवहार से असफल है। अवसरवादी व्यवहार में परधन, परनारी तथा परपीड़ा का समाविष्ट होना आवश्यक है, जिसके लिए अमानवीयतापूर्ण भाव, भाषा, प्रसारण, प्रकाशन तथा प्रदर्शन अनिवार्य है, जिससे भ्रामकता का तथा विलासिता का ही अनुभव होता है, जो मानव-कुल को असन्तुलित, व्याकुल तथा त्रस्त किये हुए है।

● मानव गलती करने का अधिकार लेकर तथा सही करने का अवसर एवम् साधन लेकर जन्मता है।

● उपरोक्तानुसार मनुष्य को न्यायवादी बनाने हेतु तथा न्याय में निष्ठा उत्पन्न करने हेतु उसे स्वभाववादी बनाने के लिए व्यवस्था का योगदान आवश्यक है।

● भ्रान्ति ही अवसरवादिता में आसक्ति का कारण है। भ्रान्ति मात्र आरोप ही है।

● भ्रान्ति के विपरीत में निर्भ्रमता है। निर्भ्रमता ही न्याय में

का कारण है। निर्भ्रमता के फलस्वरूप समाधान, मनोबल, सुख, कर्तव्य में निष्ठा, स्नेह, अनुराग, शान्ति, सन्तोष, प्रेम, सहजता, सरलता, उत्साह, आह्लाद तथा आनन्द की उपलब्धि है। यह सब अन्योन्याश्रित है।

ׁ॰॰ समाधान—क्यों और कैसे की पूर्ति अथवा क्रिया से अधिक ज्ञान की 'समाधान' संज्ञा है।

॰॰ मनोबल—केन्द्रीकृत मन: स्थिति की 'मनोबल' संज्ञा है।

॰॰ सुख—न्याय में दृढ़ता की 'सुख' संज्ञा है।

॰॰ कर्तव्य में निष्ठा—उत्तरदायित्व का वाहन ही कर्तव्य में निष्ठा है।

॰॰ स्नेह—न्याय, धर्म एवम् सत्य की निर्विरोधिता ही 'स्नेह' है।

॰॰ अनुराग—निर्भ्रमता से प्राप्त आप्लावन की 'अनुराग' संज्ञा है।

॰॰ शान्ति—वेदना-हीन मानसिक स्थिति।

॰॰ सन्तोष—अभाव का अभाव अथवा अभाव से अप्रभावित विचार सम्पन्नता।

॰॰ प्रेम—दिव्यात्मा की सान्निध्यता, सामीप्यता, सारूप्यता तथा सालोक्यता प्राप्त करने हेतु अन्तिम संकल्प की 'प्रेम' संज्ञा है।

॰॰ सहजता—रहस्यता से रहित जो मानसिक स्थिति है, उसकी 'सहजता' संज्ञा है।

॰॰ सरलता—आडम्बर-हीनता अथवा दिखावा रहित व्यवहार की 'सरलता' संज्ञा है।

॰॰ आनन्द—शून्यानुभूति की 'आनन्द' संज्ञा है।

॰॰ पूर्णता—सर्वतोमुखा सम्पन्नता 'पूर्णता' है।

॰॰ निर्भ्रमता—न्याय, धर्म एवम् सत्यतापूर्ण व्यवहार, भाषा, भाव, बोध, संकल्प व अनुभूति की 'निर्भ्रमता' संज्ञा है।

★ विचार का प्रतिरूप ही भाव, भाषा एवम् व्यवहार के रूप में परिलक्षित होता है। अत: निर्भ्रमता के लिए—

★ न्याय, धर्म एवम् सत्यानुभूति योग्य क्षमता से व्यवहार, भाव व भाषा संयमित और परिमार्जित होता है।

● पवित्र विचार ही मनोबल, मनोबल ही कर्तव्य-निष्ठा, कर्तव्य-निष्ठा ही समृद्धि, समृद्धि ही सह-अस्तित्व तथा सह-अस्तित्व ही पवित्र विचार है, जिससे न्यायवादी व्यवहार प्रतिष्ठित तथा अवसरवादी व्यवहार अप्रतिष्ठित है।

● अवसरवादिता पर ही संयमता, नियंत्रण तथा दमन का अधिकार चाहिए।

● प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही न्याय का याचक है। न्यायपूर्ण व्यवहार प्रस्तुत करने योग्य क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता को उत्पन्न करना ही, एक से अनेक मनुष्य द्वारा किए जा रहे अनवरत प्रयास का मूल उद्देश्य है।

● न्यायवादी जन-जाति की परस्परता में सहज स्वभाव ही 'सामाजिकता' है तथा वह मात्र मानवीयतापूर्ण समाज है।

—★—

卐 सोलह

● कोई भी मनुष्य स्वयं का शोषण नहीं चाहता है।

● इकाई—अनुकूल इकाई=शोषण तथा इकाई+अनुकूल इकाई=पोषण।

★ विकास सम्पूर्ण सृष्टि का लक्ष्य है तथा सृष्टि की प्रत्येक इकाई की चेष्टा विकास के लिए ही है। सृष्टि में इकाई के स्वतंत्र अस्तित्व का दर्शन नहीं होता। प्रत्येक इकाई वातावरण के दबाव से क्षुब्ध होकर स्वतंत्र होने के प्रयास में है। सृष्टि, जड़ एवम् चैतन्य, दो अवस्थाओं में है। जड़ सृष्टि तक स्वतंत्रता की कोई सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, पर चैतन्य सृष्टि में मानव नामक इकाई के स्वतंत्र होने की संभावना दिखती है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ सब से अलग होने से नहीं है और न ही सब से अलग होने की संभावना उस समय तक है, जब तक इकाईत्व है। फिर स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? स्वतंत्रता का अर्थ है, अपने को वातावरण के दबाव से मुक्त कर लेना। मानव इकाई में इसकी पूर्ण संभावनाएँ हैं तथा मानव ने स्वतंत्रता की अनुभूति भी की है।

× इस अध्याय में शोषण एवम् पोषण का अध्ययन मानव के संदर्भ में ही किया गया है।

★ वातावरण के क्षोभ से मुक्त होकर स्वतंत्र अस्तित्व की अनुभूति मानव विकास की चरम परिणीति है। विकास की दिशा में जो समस्त अवरोध है, वह 'शोषक' तथा इसमें सहायक समस्त तत्व 'पोषक' हैं। अतएव, यह सिद्ध हुआ कि विकास को अवरुद्ध करने वाली समस्त क्रियाएं 'शोषण' हैं तथा विकास को गतिशील करने वाली समस्त क्रियाएँ 'पोषण' हैं।

★ प्रत्येक इकाई परस्परता से प्रभावित है, चाहे वह प्रभाव प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष हो। चूंकि यहां मानव इकाई के पोषण एवम् शोषण का विश्लेषण है, अतः हमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय भेद से विश्लेषण करना होगा। अंतर्राष्ट्रीय मानव समाज एक है तथा सब की साम्य कामना 'सुख' एक ही है। सुख की उपलब्धि ही मानव का चरम विकास है तथा सुख की स्थिति में ही मनुष्य अपने को वातावरण के दबाव से मुक्त अनुभव करता है। सुखी मनुष्य अन्य का पोषण करने में भी समर्थ होता है।

● सुख एक बौद्धिक स्थिति है।

● मानव ने बौद्धिक समाधान तथा भौतिक समृद्धि से सुख की कामना की है।

× यह उल्लेखनीय है कि बुद्धि-युक्त परमाणु, पदार्थ की सर्वोच्च विकसित इकाई है।

● बौद्धिक समाधान के मार्ग में सब से बड़ा अवरोधक तत्व भय है। मानव ने कुल तीन प्रकार के भय का अनुभव किया है।

(१) प्राकृतिक भय,

(२) पाशविक भय तथा

(३) मानव में निहित अमानवीयता का भय।

● उपरोक्त तीनों से कुल चार प्रकार से मनुष्य भयभीत है ;—

(१) पद भय, (२) यश भय, (३) धन भय और (४) मृत्यु भय।

● भौतिक समृद्धि के लिए मनुष्य के पास केवल तीन ही अर्थ हैं- (१) तन (२) मन और (३) धन।

● तन, मन एवम् धन के नियोजन से ही प्राप्त प्राकृतिक ऐश्वर्यों का उपयोग तथा उपभोग करते हुए मानव ने भय—प्राकृतिक, पाशविक तथा मानव में निहित अमानवीयता के भय—से मुक्त होकर सुखानुभूति की कामना की है।

★ भय से निवारण हेतु सामाजिकता का विकास मानव ने किया। सामाजिकता का अर्थ ही है सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह। सम्बन्ध एवम् सम्पर्क के निर्वाह के लिए आधारभूत प्रेरणा-श्रोत चार हैं :—

(१) सभ्यता, (२) संस्कृति, (३) व्यवस्था और (४) विधि

★ सभ्यता, संस्कृति, व्यवस्था और विधि के आश्रय में मानव ने प्राप्त अर्थ का नियोजन करते हुए सुख की अनुभूति की कामना की है। छोटी से लेकर बड़ी इकाई तक ने अर्थ का उपयोग और उपभोग करते हुए सुखी होने का प्रयास किया है, पर जब एकाकी प्रयोग से उसे सुख की उपलब्धि नहीं हुई तो समाज का गठन हुआ तथा ऐसे गठित समाज में सम्पर्क एवम् सम्बन्धों के निर्वाह के लिए नियम प्रादुर्भूत हुए। इन नियमों का सभ्यता एवम् संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया तथा इन्हें आवश्यकीय तथा अनावश्यकीय नियमों के रूप में जाना गया। साथ ही इन्हें ऐसा ही मानने और बरतने हेतु प्रेरणा देने के लिए व्यवस्था और विधि का जन्म हुआ।

★ सभ्यता तथा संस्कृति के अनुभवों के आधार पर 'प्राप्त अर्थ तन और मन' की सदुपयोगात्मक नीतियों का निर्धारण हुआ तथा इन्हें 'धार्मिक-नीति' की संज्ञा दी गई। धार्मिक-नीति मात्र चैतन्य पक्ष तथा उससे सम्बद्ध व्यवहार तक ही सीमित है, अतः पूर्णतः बौद्धिक है। धर्मनीति में व्यक्ति को इकाई मानकर उसके विकास की संभावनाओं को दृष्टिगत रखते हुए वैयक्तिक स्तर से लेकर संपूर्ण मानव समाज में प्राप्त सम्पर्कों तथा सम्बन्धों पर

मनन किया गया तथा इससे मानवीयता, अतिमानवीयता पूर्ण व्यवहारका दर्शन हुआ, जिससे एक से लेकर अनेक तक के लिए विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। साथ ही इसके विपरीत अमानवीयता का भी दर्शन हुआ जिससे एक से अनेक तक के विकास को अवरुद्ध करने वाले मार्ग का भी दर्शन हुआ।

★ सामाजिक एकसूत्रता को बनाए रखने के लिए तथा अमानवीयता के दमन के लिए, जिससे मनुष्य को प्राप्त अर्थ—तन और धन—की सुरक्षा भी होती हो, राज्यनीति का विकास हुआ। सामाजिक इकाई होने के नाते एक मनुष्य के तन तथा धन की सुरक्षा के साथ परिवार, समाज तथा राष्ट्र की सुरक्षा स्वयमेव सिद्ध है। यह उसी स्थिति में सम्भव तथा व्यवहार्य है जब मनुष्य से लेकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एक-सूत्रता हो।

★ राज्य नीति से साकार होने वाली उपलब्धि के मूल तत्व हैं :—

● स्व-धन, स्वनारी/स्व-पुरुष और दया में निष्ठा एवम् विश्वास की स्थापना तथा पर-धन, पर-नारी/पर-पुरुष और पर-पीड़ात्मक व्यवहार का दमन।

★ राज्य-नीति का क्षेत्र अर्थ की सुरक्षा से अधिक सम्बद्ध होने के कारण इसका सम्बन्ध भौतिक सम्पर्क और सम्बन्ध से अधिक है। अतः इसका धर्मनीति के आश्रय में होना अनिवार्य और अपरिहार्य है।

● अन्तर्राष्ट्रीय नीति से राष्ट्रीय नीति को प्रेरणा व दिशा, राष्ट्रीय नीति से सामाजिक नीति को प्रेरणा व दिशा, सामाजिक नीति से पारिवारिक प्रेरणा व दिशा और पारिवारिक नीति से व्यक्तित्व निर्माण के लिए प्रेरणा व दिशा प्राप्त होती है।

● इसकी विलोम पद्धति से भी नीति-निर्धारण होता है, जिससे कि मानव समाज के लिये व्यक्ति की महत्ता तथा व्यक्ति के लिए मानव समाज की महत्ता प्रतिपादित होती है। इसके साथ ही व्यक्ति से लेकर संपूर्ण मानव समाज की एकसूत्रता का महत्व भी हृदयंगम होता है।

● अन्तर्राष्ट्रीय-नीति में विस्तार नीति, राष्ट्रीय नीति में पद व वर्ग नीति, सामाजिक नीति में पर धन, परनारी/ पर पुरुष, एवम् परपीड़ात्मक नीति और व्यक्तिगत नीति में संग्रह ही वैविध्यता का मूल कारण है, जिससे क्षोभ उत्पन्न होता है। शोषण से ही क्षोभ उत्पन्न होता है।

● इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय नीति में विकास नीति, राष्ट्रीय नीति में विधि (न्याय) की अक्षुणता बनाए रखने के लिए व्यवस्था, सामाजिक नीति में स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष तथा दया की नीति और व्यक्तिगत जीवन में असंग्रहवादी नीति से ही पोषण संभव है।

★ पूर्वोक्त शोषण नीति का निरीक्षण, परीक्षण तथा सर्वेक्षण करने पर यह अनुभव में आता है कि व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक की विभिन्न उपरिवर्णित इकाईयां स्वयम् की अपूर्णता की पूर्ति हेतु विस्तारवाद द्वारा स्वयम् को पूर्ण करने की आशा में रत हुयीं। विस्तार की कामना मात्र पांच ऐश्वर्यों के लिए ही है। वह है, बल, बुद्धि, रूप, पद व धन। जहां तक पदार्थ के विस्तार का प्रश्न है, स्वभावत: सीमित होने के कारण किसी भी एक लोक में पदार्थ के विस्तार की सम्भावना ही नहीं है और न ही पदार्थ की उपस्थिति, अथवा संरचना तथा निरंतर गतिशील गठन-क्रिया पर मानव का अधिकार है।

● मानव में पदार्थ के मात्र उपभोग तथा उपयोग की क्षमता, योग्यता तथा पात्रता है।

★ अब विस्तार की कल्पना केवल सम्बन्ध तथा सम्पर्क की सीमा में आती है। सम्बन्ध का जन्म समाज एवम् शासन के

आश्रय में होने के कारण इसके विस्तार की कोई सम्भावना नहीं है। अत: मात्र सम्पर्क ही शेष है, जिसके विस्तार की सम्भावना पर विचार करेंगे।

★ सृष्टि की प्रत्येक इकाई का सम्पर्क प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से शेष सृष्टि की इकाईयों से है ही अर्थात् सम्पर्क के विस्तार की भी सम्भावना नहीं है। उसके लिए किया गया समस्त कार्य मात्र क्षोभ ही उत्पन्न करेगा। क्षोभ को, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, ऐसा न समझकर यह समझा जाता है कि प्रयास की अपूर्णता के कारण ही उपलब्धि नहीं हुयी। प्राप्त साधनों से प्रयास करने पर असफलता प्राप्त होने पर उसे चरितार्थ, करने हेतु अन्य साधनों के संग्रह का भी प्रयास किया जाता है। जिस साधन हेतु, पात्रता एवम् योग्यता जिस इकाई में होती है, वह उसे प्राप्त होता ही है। अत: अतिरिक्त साधनों के लिये वह अपनी पात्रता एवम् योग्यता के विपरीत आचरण करते हुये शोषण करता है। जिसकी पात्रता एवम् योग्यता किसी इकाई में न हो, उस इकाई के पास उस वस्तु की उपलब्धि का अर्थ ही है 'शोषण द्वारा संग्रह'।

× सम्बन्ध एवम् सम्पर्क के विषय में एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इन दोनों में दायित्व का निर्वाह आदान-प्रदान के आधार पर होता है, परन्तु दोनों में भेद यह है कि सम्बन्ध की परस्परता में प्रत्याशाएँ पूर्व-निश्चित रहती है तथा इसके अनुरूप ही आदान एवं प्रदान होता है। सम्पर्क में आदान और प्रदान परस्परता में पूर्व-निश्चित नहीं रहता इसीलिए सम्पर्क में आदान एवम् प्रदान क्रियाएँ ऐच्छिक रूप से अवस्थित हैं। सम्पर्क में परस्परता में भय तथा शोषण की आशा नहीं रहती, फिर भी, ऐच्छिक होने के कारण संपर्क में अधिकमत उचित व अनुचित बरतने के लिये अवसर रहता

ही है। मनुष्यों अथवा इससे विकसित तक ही सम्बन्धों की स्थापना है, जबकि समस्त इकाईयाँ परस्पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क में हैं ही।

● सम्पूर्ण सम्पर्क प्रेरणा के श्रोत हैं। सम्पर्क दो प्रकार के होते हैं— (१) प्राकृतिक सम्पर्क (२) मानव सम्पर्क।

★ प्राकृतिक सम्पर्क में मनुष्य अपने से कम विकसित का उपयोग व उपभोग करता है। समस्त भौतिक सम्पर्क तथा इसकी उपलब्धियाँ सम्बन्ध के निर्वाह के लिये ही होती हैं। मानव सम्पर्क से मनुष्य अपने विकास अथवा ह्रास के लिए प्रेरणा पाता है।

★ मानव सम्पर्क जो विकास के लिये प्रेरणा देता है, पोषण है तथा जो ह्रास की ओर प्रेरित करता है, वह शोषण है।

● जो जिसका मूल्यांकन नहीं करेगा वह उसका सदुपयोग नहीं करेगा या नहीं कर सकेगा। अतः मनुष्य के हर पक्ष का मूल्यांकन आवश्यक है।

★ संपूर्ण सम्बन्धों के मूल में मूल्यांकन आवश्यक है। मूल्यांकन मौलिकता का ही होता है। मौलिकता के आधार पर ही कर्तव्य का निर्धारण तथा निर्वाह होता है। दायित्वों का निर्वाह जिस इकाई के प्रति होना है, उस इकाई के प्रति न होने से उसका पोषण अवरुद्ध होता है, अथवा शोषण है तथा साथ ही जिस इकाई द्वारा दायित्व का निर्वाह होना है, उसे, न होने की स्थिति में, प्रतिफल के रूप में अविश्वास ही मिलेगा। अविश्वास ही द्रोह, विद्रोह तथा आतंक का कारण बनता है, जो शोषण की ओर प्रेरित करता है।

× प्रत्येक सम्बन्ध में सम्पर्क निहित है ही। संबंध में भाव (मौलिकता) पक्ष विशिष्ट है तथा भौतिक पक्ष

गौड़ है। प्रत्येक सम्बन्ध में भाव पक्ष का जितना तिरस्कार होता है, भौतिक पक्ष उतना ही प्रबल होता है। सम्बन्धों में भाव का निर्धारण परम्परा के अनुसार विकसित मान्यताओं पर आधारित है। सम्बन्धों के निर्वाह में भाव पक्ष का तिरस्कार कर, भौतिक पक्ष को वरीयता प्रदान कर, जब आचरण किया जाता है, तो अपने से अविकसित को विकास का लक्ष्य समझ लेने की उलटी धारणा का जन्म हो जाता है, जबकि समस्त भौतिक पक्ष मनुष्य से अविकसित हैं ही। इसलिये विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। परिणामतः मानव समाज ने भौतिक उपलब्धियों के लिए ही युद्ध किया।

★ किसी भी उपलब्धि के प्रति आवश्यकीय नियम सहित पूर्ण जानकारी की 'निश्चय' तथा अपूर्ण जानकारी से किए गए प्रयास की 'मान्यता' संज्ञा है।

★ अतः सम्बन्ध में भाव पक्ष का तिरस्कार ही उस सम्बन्ध का शोषण है।

★ अतः यह सिद्ध है कि समस्त सम्पर्कात्मक तथा सम्बन्धात्मक व्यवहार से भौतिक तथा भावात्मक शोषण एवम् पोषण है। वर्तमान ने भौतिक शोषण को अधिक महत्व दिया है तथा भावात्मक शोषण को उपेक्षित किया है। जबकि ह्रास की गति भावात्मक शोषण के फलस्वरूप तीव्र गति से और भौतिक शोषण से धीमी गति से है, क्योंकि भाव पक्ष भौतिकता से अति-विकसित अवस्था है।

× पुनः यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि विकास बौद्धिकता में है, जो सह-अस्तित्व के रूप में परिलक्षित होता है तथा भौतिकता में कोई विकास नहीं होता बल्कि उपयोगिता तथा उपभोग बढ़ जाता है।

● मनुष्य के लिए पोषण-युक्त सम्पर्कात्मक एवम् सम्बन्धात्मक विचार एवम् तदनुसार व्यवहार से ही मानवीयता की स्थापना संभव है, अन्यथा, शोषण और अमानवीयता की ही उपलब्धि है।

★ शोषण एवम् पोषण कुल तीन ही प्रकार से होता है।

★ दायित्व का निर्वाह करने से पोषण अन्यथा शोषण है। प्राप्त दायित्वों में नियोजित होने वाली सेवा को नियोजित न करते हुए मात्र स्वार्थ के लिए जो प्रयत्न है एवम् दायित्व को अस्वीकारने की जो प्रवृत्ति है, उसको दायित्व का निर्वाह न करना कहते हैं।

● दायित्व का निर्वाह न करने पर स्वयम् का विकास, जिसके साथ निर्वाह करना है, उसका विकास, तथा इन दोनों के विकास से जिस तीसरे पक्ष का विकास हो सकता है वह सभी अवरुद्ध हो जाते हैं। विकास को अवरुद्ध करना ही शोषण है।

★ २. दायित्व का अपव्यय अथवा सद्व्यय करना:— दायित्व के निर्वाह में आलस्य एवम् प्रमाद-पूर्वक प्राप्त प्रतिभा और वर्चस्व का न्यून मूल्य में उपयोग करना ही दायित्व का अपव्यय है।

★ ३. दायित्व का विरोध करना अथवा पालन करना:— मौलिक मान्यताएँ, जो सम्बन्ध एवम् सम्पर्क में निहित हैं उसके विरोध में ह्रास के योग्य मान्यता को प्रचारित एवम् प्रोत्साहित करना ही दायित्व का विरोध करना है। दायित्वों का विरोध अभिमानवश या अज्ञानवश किया जाता है।

★ प्रत्येक इकाई के मूल में तीन बातें मुख्य होती हैं— (१) गठन (२) उद्देश्य और (३) आचरण (कार्यक्रम) की विशिष्टता। यहाँ चूँकि व्यक्ति से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय मानव समाज की,

इकाई के संदर्भ में शोषण एवम् पोषण की विवेचना है, अतः हम उपरोक्त चर्चा के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न इकाईयों के गठन, उद्देश्य और आचरण (कार्यक्रम) की विशेषता निम्नानुसार होने पर ही सम्पूर्ण मानव समाज एकसूत्रता में होकर, शोषण मुक्त हो सकेगा।

इकाई	गठन की विशिष्टता	गठन का उद्देश्य	आशित आचरण
१. व्यक्ति	विचार एवम् शरीर	सुखानुभूति	न्यायसम्मत व्यवहार
२. परिवार	सीमित व्यक्तियों के समूह का सम्बन्ध प्रधान गठन।	यश एवम् समृद्धि	व्यवसाय एवम् प्रयोग
३. समाज	सीमित परिवारों का समूह, जिसमें सम्बन्ध एवम् सम्पर्क दोनों सम्मिलित हों।	समृद्धि सहित सत्यता एवम् सामाजिकता को आत्मसात करना, अर्थ का सदुपयोग।	विकास के लिए प्रचार एवम् प्रदर्शन, प्रकाशन तथा प्रोत्साहन।
४. शासन	राष्ट्रव्यापी जनजाति के समूह का गठन, सम्बन्ध एवम् सम्पर्क के निर्वाह के लिए विधि (कानून) की प्रधानता।	मानवीयता का संरक्षण प्रत्यक्ष-रूप में अर्थ की सुरक्षा।	न्यायपूर्ण व्यवस्था।
५. विश्व	कई राष्ट्रों का समूह जिसके मूल गठन में मानवीयता प्रधान संयोजक तत्व है।	मानवीयता को प्रोत्साहन।	सह-अस्तित्व।

★ उपरोक्त वर्णित उद्देश्य अर्थात् तन और मन के सदुपयोग और तन व धन की सुरक्षा की पूर्ति के लिए तथा तदनुकूल आचरण को व्यवहार में लाने हेतु और तदनुसार विभिन्न स्तरों के गठन की सम्पर्कात्मक तथा सम्बन्धात्मक परस्परता को विश्वास-पूर्वक सुदृढ़ करने के लिये एक समन्वित धर्मनीति तथा राज्य नीति आवश्यक है, जिससे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को स्थापित तथा विकसित किया जा सके, जो मानव के विकास की संपूर्ण सम्भावनाओं से युक्त हो। ऐसी व्यवस्था मात्र पोषण-प्रधान गुणों व नीतियों से ही सम्पन्न होगी, जो विकास का मार्ग प्रशस्त करेगी, जिससे अन्ततोगत्वा सुख की उपलब्धि होगी।

★ उपरोक्तानुसार धर्मनीति तथा राज्यनीति के व्यवहारान्वयन में सहायक सभी विचार तथा व्यवहार पोषक, अन्यथा, शोषक ही सिद्ध होंगे।

★ यहां पर उल्लेखनीय है कि जिस धर्मनीति व राज्य नीति की प्रस्तावना आगे की जाने वाली है, वह मात्र पोषक होने के कारण सार्वभौमिक निर्विवाद स्थिति को प्राप्त करेगी तथा अपनी परम्पराओं का निर्वाह करते हुए तथा अपने मतों (धार्मिक विश्वासों) के साथ जीते हुए इस विश्व धर्म का पालन सभी मनुष्य, परिवार तथा राष्ट्र निर्विरोध रूप से कर सकेंगे। अभी जो राष्ट्रों का एकांगी प्रयास है, वह नीचे लिखी मान्यताओं के अनुसार आचरण करने पर परस्पर सहयोगी होकर विकास की गति को और भी गति प्रदान करने में सक्षम होंगे। सम्पूर्ण मानव जाति परस्परता में सह-अस्तित्व की भावना से प्रतिष्ठित होकर एक दूसरे के विकास में हर स्तर पर अर्थात् व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहायक एवम् सहयोगी होगी और फलतः मानव समाज शोषण से मुक्त हो सकेगा।

★ वातावरण के दबाव से मुक्त होने के लिए शोषण से मुक्ति आवश्यक है, जिसके फलस्वरूप विकास करते हुए चरम उपलब्धि सुख की अनुभूति सम्भव है।

★ सम्पूर्ण मानव समाज के लिए समन्वित धर्मनीति तथा राज्य-नीति निम्न आधार-भूत सिद्धान्तों की सहायता से विकसित की गयी है।

● १. भूमि एक, राष्ट्र अनेक,

● २. मानव की जाति एक, कर्म अनेक,

● ३. धर्म एक, मत अनेक

● ४. ईश्वर एक, देवता अनेक।

● उक्त चार सिद्धान्तों से जिस एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्वयंसिद्ध सिद्धान्त की निष्पत्ति होती है, वह है :—

● मानव सही में एक तथा गलती में अनेक है।

मानव धर्म-नीति

परिभाषा

⁛ मानव की सार्वभौमिक साम्य कामना 'सुख' की अनुभूति हेतु मानव के समस्त सम्पर्क एवम् सम्बन्ध के निर्वाह के लिए जो निश्चित कार्यक्रम है, उसे 'मानव धर्म नीति' की संज्ञा है।

आवश्यकता —

● मानव धर्मनीति की जानकारी तथा परिपालन इसलिए आवश्यक है कि मानव प्रयोग एवम् व्यवसाय द्वारा प्राप्त अर्थ तथा प्राप्त प्राकृतिक सम्पदा के सदुपयोग की कामना करता है।

★ सदुपयोगिता अथवा दुरुपयोगिता का निर्णय चैतन्य पक्ष का कार्य है। संस्कृति एवम् सभ्यता से प्राप्त परम्परागत अनुभवों के आधार पर धर्मनीति द्वारा सदुपयोगिता अथवा दुरुपयोगिता का निश्चय किया जाता है। इसका लक्ष्य मात्र सुखानुभूति है, अर्थात् धर्मनीति का अध्ययन मनुष्य की परस्परता में पाये जाने वाले सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का अध्ययन है, क्योंकि मनुष्य सम्पर्क एवम् सम्बन्ध से सुखी और दुःखी हो रहा है न कि वस्तु वाहन आदि से।

लक्ष्य अथवा साध्य.

● अमानवीयता से मानवीयता की ओर प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने हेतु साधन, अवसर तथा व्यवस्था उपलब्ध कराना, जो अतिमानवीयता के लिये प्रोत्साहन देने में समर्थ हो।

● प्रत्येक साध्य को पाने हेतु तीन बातों का होना अनिवार्य है :—

● १ साधक, २ साधना, ३ साधन।

१. **साधक**: प्रत्येक मनुष्य को 'साधक' की संज्ञा है, वह क्रम से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा अन्तराष्ट्रीय भेद से है।

२. **साधना**: तन, मन तथा धन सहित मानवीय दृष्टि, विषय एवम् स्वभाव सहित साध्य (मानवीयता एवम् अतिमानवीयता) को पाने हेतु प्रयुक्त क्रिया प्रणाली को 'साधना' की संज्ञा है।

३ **साधन**: तन, मन व धन ही साधन है।

● साधन की प्रयुक्ति, कृत, करणीय एवम् अनुमोदित भेद से कुल नौ प्रकार से होती है। इन समस्त साधनों को तीन क्षेत्रों में ही प्रयुक्त किया जा रहा है।

(१) प्राकृतिक क्षेत्र, (२) सांस्कृतिक क्षेत्र, और (३) बौद्धिक क्षेत्र।

● मानव धर्म-नीति का अध्ययन अपेक्षाकृत ढंग से ही संभव है वह है—

व्यापक की अपेक्षा में अतिमानवीयता का, अतिमानवीयता की अपेक्षा में मानवीयता का और मानवीयता की अपेक्षा में अमानवीयता का अध्ययन। यह सह-अस्तित्व, सामाजिकता, समृद्धि, समाधान, सन्तुलन, सच्चरित्रता एवम् सुख के उद्देश्य से किया गया है और यही मानव की आद्यन्त आकांक्षा है।

★ सह-अस्तित्व व सामाजिकता का अध्ययन व्यक्ति के विकास एवम् व्यवहार के संदर्भ में ही है।

★ समाज का गठन व्यक्तियों सहित उद्देश्यपूर्ण आचरण संहिता समेत व्यवस्था प्रणाली ही है। समाज से व्यक्ति सम्पर्क एवम् संबंध द्वारा जुड़ा हुआ है।

● मानव समाज में परस्पर निम्न सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।

एक—पिता-माता एवम् पुत्र-पुत्री सम्बन्ध,

दो—पति-पत्नी सम्बन्ध,

तीन—गुरु और शिष्य सम्बन्ध,

चार—भाई और बहिन सम्बन्ध,

पांच—सेवक और स्वामी सम्बन्ध,

छः—शासन और प्रजा सम्बन्ध,

सात—मित्र सम्बन्ध।

★ एक—पिता-माता एवम् पुत्र-पुत्री सम्बन्ध:—माता-पिता के सम्बन्ध में, पुत्र-पुत्री के साथ मातृ-भाव में, शरीर-भाव प्रधान रहता है तथा पितृ भाव में बौद्धिक विकास की भावना प्रधान रहती है। मूल रूप में माता पोषण तथा पिता संरक्षण स्वरूप है।

× माता एवम् पिता के बिना किसी भी इकाई का

संवर्धन तथा विकास संभव नहीं है। परस्परता में आशा प्रत्याशा रहती ही है। फलतः हर माता-पिता अपने संतान में उस दिशा में पूर्ण विकास की कामना करते हैं, जिस दिशा में वह स्वयम् को अपूर्ण अनुभव करते हैं।

× माता एवम् पिता हर संतान से उनकी अवस्था के अनुरूप प्रत्याशा रखते हैं। उदाहरणार्थ शैशवावस्था में केवल बालक का लालन पालन ही माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति कर्तव्य होता है तथा इस कर्तव्य के निर्वाह के फलस्वरूप वह मात्र शिशु की मुस्कुराहट की ही अपेक्षा रखते हैं। कौमार्यावस्था में किंचित शिक्षा एवम् भाषा का परिमार्जन चाहते हैं। कौमार्यावस्था के अनन्तर संतान में उत्तम सभ्यता की कामना करते हैं। सभ्यता के मूल में हर माता-पिता अपने संतान से कृतज्ञता (गौरवता) पाना चाहते हैं तथा केवल इस एक अमूल्य निधि को पाने के लिये तन, मन, एवम् धन से संतान की सेवा किया करते हैं। संतान के लिये हर माता-पिता अपने मन में अभ्युदय, समृद्धि तथा सम्पन्नता की ही कामना रखते हैं। इन सब के मूल में कृतज्ञता की वांछा रहती है। जो संतान माता-पिता एवम् गुरु के कृतज्ञ नहीं हो सकते हैं, उनका कृतघ्न होना अनिवार्य है, जिससे वह स्वयम क्लेश परम्परा को प्राप्त करते हैं और दूसरों को भी क्लेशित करते हैं।

★ दो—पति-पत्नी सम्बन्धः—

× दाम्पत्य जीवन की चरमोपलब्धि 'एक ही मन और दो शरीर होकर' व्यवहार करना है। दाम्पत्य जीवन में व्यवहार निर्वाह सम्पर्क एवम् सम्बन्ध ही है। तात्पर्य यह है कि दाम्पत्य जीवन व्यक्ति के रूप में दो है और व्यवहार के रूप मे एक है।

× पति-पत्नी दोनों में से किसी के द्वारा भी अज्ञान के कारण जितने भी अंश में इस प्रतिज्ञा—'एक मन और दो शरीर होकर जिएंगे'—का निर्वाह नहीं किया जाता या जितने अंश में उक्त प्रतिज्ञा का उल्लंघन किया जाता है, उतना ही दोनों पक्ष अपनी २ पूर्व-धारणाओं के कारण उत्पीड़ित हो जाते हैं। इसका फल होता है कि दो विचार-धारा के अनुरूप दो व्यवहारधारा आरंभ हो जाती है। इस प्रकार का दाम्पत्य जीवन सदिग्ध हो जाता है। परस्पर विश्वास की कमी के फलस्वरूप कुछ अवधि तथा आयु के पश्चात दोनों अपने को अलग-अलग अनुभव करने लगते हैं। इसके मूल में कारण यही होता है कि उसमें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि उसके द्वारा मूल-भूत विश्वास का निर्वाह नहीं किया जा सका।

× ऐसा एक मन और दो शरीर वाला जीवन जीने या अनुभव करने के लिये, दोनों पक्षों के लिये यह आवश्यक है कि सम्बन्धात्मक तथा सम्पर्कात्मिक व्यवहारों का निर्वाह करने में अपनी आर्थिक तथा मानसिक प्रयुक्तियाँ किस अनुपात एवम् रीति नीति से नियोजित करेंगे, इसका निर्णय पूर्व में ही कर लेंवे और इसके पश्चात् ही उन प्रयुक्तियों से वांछित सुख एवं आह्लाद का अनुभव होगा, जो सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह करने पर या पूर्णतया निर्वाह करने पर हर व्यक्ति से प्राप्त होता है। मूलतः दोनों पक्षों द्वारा निर्विरोधपूर्वक अपने सम्बन्ध एवम् सम्पर्क का निर्वाह करना ही अवसर, आवश्यकता तथा उपलब्धि है। जहाँ तक मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, आदर और यश का प्रश्न है, वह पति अथवा पत्नी दोनों में सम्मिलित रूप से रहता है तथा उनमें से किसी एक को भी मिलने पर दूसरे पक्ष में वह समान रूप से बँटता ही है।

★ तीन—गुरु और शिष्य सम्बन्ध :—

× गुरु की ओर से शिष्य के प्रति आशा बंधी रहती है कि जो अध्ययन कराया जाता है, उसका बोध शिष्य को होगा।

× शिष्य की ओर से गुरु से प्रत्याशा रहती है कि वांछा तथा जिज्ञासा के आधार पर उन्हीं दिशाओं में गुरु द्वारा अध्ययन कराया जाएगा। गुरु और शिष्य दोनों में उपलब्धि की कामना की साम्यता है। प्रक्रिया में विलोमता है। एक प्रदाता है और दूसरा प्राप्तकर्त्ता है। प्राप्तकर्त्ता और प्रदाता की एक ही अभिलाषा है कि 'बोध' पूर्ण हो जाय।

× जिस पक्ष में शिष्य का बोध-पूर्ण हो जाता है, उस समय गुरु पर्व मनाता है अर्थात् गुरु को प्रसन्नता की अनुभूति होती है, जिसको वात्सल्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि हर एक बड़े अपनों से छोटों में वांछित गुणों की प्रसारण क्रिया में तत्पर रहते हैं। इसके बदले में जो तोष वे पाते हैं, वही इसकी उपलब्धि है। प्रदाय के बदले में किसी वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रहती।

★ चार—भाई और बहिन सम्बन्ध।

× भाई और बहन के सम्बन्ध को सौहार्द-भाव के नाम से जाना जाता है—इसमें परस्पर विकास की प्रत्याशा एवम् होड़ है। इसमें दोनों पक्षों का ह्रास दोनों पक्षों को ही सहनीय नहीं होता। एक का विकास दूसरे पक्ष के विकास को आप्लावित कर देता है। जैसे यदि कोई बहिन किन्हीं विशेष सदगुणों से सम्पन्न है तो इसके कारण बहिन स्वयम में जितना आप्लावित है उतना ही अथवा उससे अधिक

आप्लावन भाई में पाया जाता है। इसी प्रकार भाई का भाई के साथ अथवा बहिन का बहिन के साथ पाया जाता है।

× परन्तु उसके विपरीत भाई अथवा बहिन में अपने दूसरे भाई अथवा बहिन के भौतिक समृद्धि के संदर्भ में परस्पर आप्लावन नहीं पाया जाता। अपितु यदि किसी भाई अथवा बहिन के पास भौतिक सम्पत्ति एकत्र हो जाय तो दूसरा भाई अथवा बहिन उसमें से कुछ हिस्सा पाने की आशा रखते हैं, परन्तु भाई अथवा बहिन को प्राप्त भौतिक समृद्धि के प्रति जो गौरव है, उससे वे पूरा का पूरा प्रसन्न होने में असमर्थ होते हैं।

★ पांच सेवक और स्वामी सम्बन्ध।

× उपलब्धि एवम् विकास के आधार पर स्वामी-सेवक सम्बन्ध दो पक्षों में गण्य है।

× विकास के लिये जो सम्बन्ध है, वह विकसित इकाई के साथ अविकसित इकाई की सम्पर्क स्थापना है। यह स्वामी-सेवक सम्बन्ध सर्वोच्च है। ऐसे स्वामी से सेवक अकिंचनता को स्वीकारता है। परिप्रेक्ष्य में स्वामी को श्रेष्ठ मानता है, जो उसकी मौलिकता है। ऐसे मूल्यवान श्रेष्ठ गुणों के केन्द्रीभूत स्वामी के प्रत्येक पक्ष में सेवक अपने को खो देता है, गद् गद् हो जाता है और रोमांचित हो जाता है तथा अनुराग से भर जाता है तथा करुणा से आप्लावित हो जाता है। इस सम्पर्क में स्वामी सेवक का पूरा पूरा उत्तरदायी हो जाता है और सेवक स्वामी को ही उसके सभी पक्षों का कर्ता मान लेता है। यह सम्बन्ध-विशेष एक-पक्षीय स्थापना है। ऐसे सम्बन्ध-स्थापना में स्वामी में जो विशेष स्वभाव आदि है, उसका अस्तित्व

ही दिखाई पड़ता है। सेवक के साथ वह स्वामी सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्वयम् की इच्छा एवम् प्रयास को स्थापित किया हुआ नहीं दिखाई पड़ता या स्पष्ट नहीं होता है। अतः इस स्वामी-सेवक भाव में मान्यताएँ आस्था से आरम्भ होकर उनके निर्वाह के अनुसार, क्रम से आस्था, आस्था से विश्वास, विश्वास से श्रद्धा, श्रद्धा से निष्ठा, निष्ठा से अनुराग तथा अनुराग से प्रेम में परिवर्तित होते दिखाई देती हैं। प्रेम सदा तादात्म्यता में रति-रत स्थिति को पा लेता है। यह स्वामी-सेवक भाव की परमोपलब्धि है। ऐसे सेवक में समर्पण भाव तात्पर्य स्व-बल, बुद्धि, रूप, पद और धन का पूर्ण अवमूल्यन, तथा इसके विलोम में स्वामी में अपूर्व-बल, बुद्धि, रूप, पद और धन का मूल्यांकन होता है। अति दूरवर्ती यह तारतम्य सेवक में सदा उत्कण्ठा पूर्वक निष्ठा बनाए रखता है। फलतः अन्तिम उपलब्धि के रूप में परिणित हो जाता है।

× दूसरा स्वामी-सेवक सम्बन्ध वह है, जिससे पद एवम् भौतिक आदान-प्रदान परस्परता में निश्चित व प्रत्याशित रहता है। ऐसे स्वामी-सेवक भाव को व्यवहार में एक चपरासी से लेकर राष्ट्राध्यक्ष तक में पाया जाता है। इस प्रकार के प्रत्येक सम्बन्ध में भी सुखद स्थिति की निरंतरता देनेवाली वस्तु केवल विश्वास ही है। यह विश्वास, विश्वास के रूप में भी रह सकता है अथवा बदल भी सकता है। इन परस्परताओं में प्राप्त विश्वास, अनुरागादि उपलब्धि में परिवर्तित नहीं होता। अतः विश्वास का या विश्वास से अधिक महत्वपूर्ण स्थिति में परिवर्तित होने की सम्भावना इस स्वामी-सेवक भाव में नहीं है। अस्तु, इसमें विश्वास की स्थिरता प्रदान किए रहना ही इस सम्बन्ध की अन्तिम अनुभूति है, जिसमें या जिसके लिए लेने

या देने का क्रम शोषण के रूप में प्रस्तुत होता है। उस स्थिति में वह सम्बन्ध का, विश्वास, के स्थान पर, प्रलोभन-पूर्वक ही निर्वाह करना चाहता है, क्योंकि एक वरिष्ठ अधिकारी कनिष्ठ अधिकारी से वस्तु व मुद्रा पाने के लिए तत्पर होता है। ऐसी स्थिति में इसके दो पहलू सामने आते हैं :—

× एक पहलू है प्रलोभनवश परस्परता में राजी कर लेना और दूसरा पहलू है न्यायवश विरोध या विद्रोह के रूप में प्रकट हो जाना। ऐसे विरोध या विद्रोह की दो स्थिति होती है।

× (१) स्वामी पक्ष न्याय चाहता है, सेवक पक्ष अन्याय चाहता है, या

× (२) स्वामी पक्ष अन्याय चाहता है, सेवक पक्ष न्याय चाहता है।

× दोनों पक्ष जब वस्तु या मुद्रा का अवैधानिक रूप से शोषण करने के लिये निर्णय कर लेते हैं, तो उसकी अनेकानेक युक्तियां तत्काल बुद्धि तथा प्राप्त पद व अधिकार के अनुरूप निकाल लेते हैं तथा उसके अनुसार सफल या असफल होते हैं।

× स्वामी जब अन्यायपूर्वक उपार्जन नहीं चाहता है, उस स्थिति में सेवक को दण्ड देने के लिये उद्यत होता है। फलस्वरूप वह सेवक उसके लिये सुधर जाता है, अन्यथा, विद्रोह करता है।

× इसी के दूसरे पहलू के रूप में स्वामी जब स्वयम् अवैधानिक ढंग से वस्तु व मुद्रा चाहता है, और सेवक नहीं चाहता, उस स्थिति में उसकी मंशा के अनुसार अपने

आचरणों को ढाल लेना या उनका विरोध करना, यह दो ही विकल्प सेवक के पास रहता है।

× विरोध की स्थिति में जब स्वामी अपने सेवक को क्षति ग्रस्त करने के लिए तत्पर हो जाता है, तो उसका यह व्यवहार ही विश्वास, न्याय, नियमितता के प्रति पूरा का पूरा अविश्वास पैदा कर देता है। यह प्रधानतः संदिग्ध-नीति वश ही संभव होता है।

★ छः—शासन और प्रजा सम्बन्ध।

● शासन के दो पक्ष सिद्ध हैं—विधि व व्यवस्था।

★ विधि का अर्थ है मानव में निहित अमानवीयता का दमन तथा व्यवस्था का तात्पर्य है मानवीयता की स्थापना के लिये प्रोत्साहन योग्य अवसर व साधन को उपलब्ध कराने की सामर्थ्य अर्जित करना:—

× शासन की उपयोगिता उपरोक्तानुसार वर्णित विधि तथा व्यवस्था द्वारा जन-जाति के विकास एवम् समृद्धि को बनाए रखने में है। शासन की इस उपादेयता के प्रति जीवन के प्रत्येक पक्ष में अनवरत गौरव को स्वीकारना ही सभ्य प्रजा का लक्षण है। साथ ही शासन का जो मूल उद्देश्य विकास और समृद्धि है, उसके लिये अंगभूत मनुष्य का अपने जीवन के कार्यकलापों को बनाए रखना ही उसके द्वारा एक सभ्य प्रजा के रूप में शासन के साथ सम्बन्ध निर्वाह है।

★ सात—मित्र सम्बन्ध।

∷ जिसमें बैर का अभाव हो, उसकी 'मित्र' संज्ञा है।

★ दोनों पक्ष की समृद्धि में चाहे कितना अन्तर हो, मैत्री

की परस्परता में अनिष्ट चिन्तन का स्थान नहीं है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि सम्पन्न या असम्पन्न पक्ष यदि किसी विपरीत घटना या परिस्थिति से घिर जाए तो दूसरा पक्ष अपना पूरा तन, मन, और धन व्यय करने के लिए तथा मित्र को उस घटना-विशेष अथवा परिस्थिति विशेष से उभारने के लिये प्रयत्नशील हो जाय। यही मित्रता की चरम उपलब्धि है। घटना ग्रस्त या परिस्थिति ग्रस्त मित्र की जो कठिनाइयाँ हैं, वह पूरी की पूरी दूसरे मित्र को प्रतिभासित होती हैं। मित्रता की कसौटी ही यह है कि परस्पर की कठिनाइयों को दूसरा पक्ष अधिक स्वीकार लेता है और यदि उसका परिहार है, तो उसके लिये अपनी शक्तियों को नियोजित करता है।

× ऐसी मित्रता की निरंतरता न्याय पूर्ण व्यवहार-सम्बन्ध से ही सफल होती है। निर्वाह के इन समस्त सम्बन्धों से व्यष्टि से समष्टि तक पोषक अन्यथा शोषक सिद्ध हैं।

● साधक द्वारा साध्य की उपलब्धि की सम्भावनाओं के आधार पर साधना-पद्धति का निश्चयीकरण किया जाता है। इन संभावनाओं के अनुरूप फल मिलने पर निर्णय होता है कि साधना सही दिशा में गति शील है। सम्भावनाएँ सुदृढ़ होने पर मान्यताओं के रूप में अवतरित होती हैं। सभी मान्यताएँ विकास तथा व्यवहार के लिये हैं।

● विकास के लिये जो मान्यताएँ हैं, वह अन्तरंग में, तथा व्यवहार के लिए जो मान्यताएँ हैं, वह बहिरंग में परिलक्षित होती हैं।

● अन्तरंग की मान्यताएँ अनुभूति और अभ्यास के लिए प्रेरणा श्रोत हैं, और बहिरंग की मान्यताएँ सामाजिकता और व्यवसाय के लिए प्रेरणा श्रोत हैं।

★ मानव सम्पर्क से मनुष्य अपने विकास अथवा ह्रास के लिए प्रेरणा पाता है। विकास के लिए प्राप्त प्रेरणा पोषक है तथा ह्रास के लिए प्राप्त प्रेरणा शोषक है। समस्त सम्पर्कों के

ऐच्छिक होने के कारण यह आवश्यक है कि उनका आधार मानवीयता-पूर्ण हो, जिससे परस्परता में सुख की अनुभूति हो सके।

★ जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रत्येक सम्बन्ध और सम्पर्क के विषय में कुछ मान्यताएँ होती हैं। इन मान्यताओं में उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उचित कार्य प्रणाली का विकास आवश्यक है। ऐसी प्रणाली का विकास मानवीय दृष्टि, स्वभाव और विषयों को ध्यान में रख कर शिक्षा पद्धति में सुधार से होगा। भ्रमपूर्ण एवम् संदिग्ध तथ्यों का अध्यापन विद्यार्थियों को किसी भी दशा में नहीं कराया जाना चाहिए। विद्यार्थियों को प्रयोग एवम् प्रयास द्वारा सिद्ध तथ्यों की जानकारी देना ही उचित एवम् न्यायसंगत है। शिक्षा प्रणाली में वांछित सुधार हेतु शिक्षा-नीति का वर्णन यथा-स्थान अग्रिम अध्यायों में किया जाएगा।

★ इस स्थान पर थोड़ा विषयान्तर कर 'मत और धर्म' की चर्चा उपरोक्त समस्त विवेचनाओं को भली भांति समझने के लिए आवश्यक प्रतीत होती है।

★ मानव के लिए सुख ही धर्म है। सुख की आशा से ओतप्रोत मानव को एक क्षण के लिए भी इस कामना से विमुख नहीं किया जा सकता। धर्म की परिभाषा ही इस प्रकार की गई है कि जिससे जिसका वियोग न किया जा सके, अथवा, जिसका वियोग सम्भव न हो, वह उसका धर्म है। धर्म की इसी परिभाषा के आधार पर पदार्थ का धर्म 'अस्तित्व', अन्न व वनस्पति का धर्म 'पुष्टि', जीवों का धर्म 'जीने की आशा' और मनुष्य का धर्म 'सुख' प्रतिपादित किया गया। यह भी प्रतिपादित किया गया कि हर विकसित अवस्था की इकाई में अविकसित इकाई का धर्म सन्निहित रहता ही है।

★ उपरोक्त मानव धर्म 'सुख' की अनुभूति के लिए अनेक पूर्व-पुरुषों के द्वारा अनेक प्रणालियों का निरूपण हुआ। इन प्रणालियों का निरूपण करते समय उस समय जिस प्रकार का वातावरण का दबाव रहा उससे स्वतंत्र होने के लिए उन अनुभव शील महानुभावों ने अथवा इकाईयों ने अपने भावों को भाषापूर्वक आदेश, संदेश एवम् उपदेश के रूप में प्रस्तुत किया। उसका स्वरूप 'उस वर्तमान' में निहित पीड़ा के अनुरूप ही था। अनन्तर तात्कालिक पीड़ाओं के स्वरूप में कुछ अन्तर भी आया होगा, पर प्राप्त आदेशों, संदेशों एवम् उपदेशों की व्याख्या आज तक उसी प्रकार होती जा रही है। फल ही है कि उनसे वांछित उपलब्धि हो रही है।

× प्राप्त आदेश, सन्देश और उपदेश का आचरण वर्तमानकालीन परिस्थितियों में अथवा कालान्तर में भी ठीक उसी प्रकार करने के फलस्वरूप जब वांछित फल नहीं प्राप्त हुआ तो आलोचना एवम् प्रत्यालोचना आरंभ हुई और उन समस्त अनुयायियों ने संगठित होकर एक वर्ग बना लिया और स्वयम् से दूसरों को नेष्ट बनाने के लिए कार्यक्रम आरंभ कर दिया, जिससे वैविध्यता का जन्म हुआ।

× अतः समस्त धर्म-प्रचारकों का यह मूलभूत कर्तव्य हो जाता है कि जिन महान् पूर्व-पुरुषों के मार्ग-दर्शन में वह अपने जीवन को सफल बनाने के प्रयास में रत हैं, उनके द्वारा दिए गए समस्त आदेशों, सन्देशों तथा उपदेशों के उतने ही अंश का प्रचार करें, जितना स्वयम् उन्होंने जीवन में उतार लिया है। शेष के लिये उनमें ऐसा कहने का दृढ़ मनोबल होना चाहिये कि उसकी कोई अनुभूति अब तक उन्हें नहीं हो पाई है और समस्त आदेशों, सन्देशों एवम् उपदेशों के इस भाग को जैसा बताया गया है, वैसा बताना चाहिए, न कि उनकी व्याख्या

करनी चाहिए, क्योंकि व्याख्या करने का अधिकारी वही है, जिसने अनुभव किया है।

× मूलत: समस्त अनुभवशील पूर्वपुरुषों ने मानवीयता का ही उपदेश दिया है। व्यवहार में मानवीयतापूर्ण आचरण से ही सह-अस्तित्व की स्थापना होकर एक दूसरे के विकास में सहकार एवम् सहयोग सम्भव है।

× मानवीयता के बहिरंग पक्ष की समाज में स्थापना के लिये संपूर्ण प्रयास सर्वप्रथम कार्य है, जबकि पुण्यशाली पुरुषों द्वारा अंतरंग पक्ष के विकास पर कहे गए वचनों का अधिक प्रचार, प्रसार तथा प्रदर्शन हो रहा है। यह ठीक ऐसा ही है, जैसे किसी छत पर चढ़ने के लिए लगी हुई सीढ़ी के निचले पायदानों की ओर इंगित न करके सीधे उस अंतिम पायदान की ओर इंगित किया जाय, जिसके बाद छत ही है। बीच की यह जो रिक्तता है, वही समस्त मतमतान्तरों तथा सम्प्रदायों में परस्पर कलह एवम् विरोध का कारण है। इस परस्पर कलह एवम् विरोध के निवारण एवम् अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने में ही सम्प्रदायों का तथा उनके अनुयायियों का अधिक समय व सामर्थ्य व्यय हो रही है न कि अपने साम्प्रदायिक सदस्यों के विकास के लिए। महत्वपूर्ण मतों के आचार्यों को मनन करना तथा तदनुसार दिशा निर्देश करना आवश्यक है, इसलिए कि हम सही में एक और गलती में अनेक हैं। सह-अस्तित्व ही सामाजिकता के लिए एकमात्र उपलब्धि है। यह सह-अस्तित्व सिद्ध न होने वाली समस्त प्रक्रिया व सम्प्रदाय 'गलत सिद्ध हुआ-हुआया है'।

× उपरिवर्णित सम्बन्ध एवम् सम्पर्क में तारतम्यात्मक व्यवहार पक्ष के आनुषंगिक मनुष्य का, विभिन्न

विभूतिपरक एवम् स्थितिपरक अध्ययन आवश्यक तथा वांछनीय है। अस्तु, सभी मनुष्य आबाल-वृद्ध निम्न ग्यारह स्थिति में गण्य हैं। ये सभी सुखी होना चाहते हैं। सुख भी नियम से, दु:ख भी नियम से, अनुभव सिद्ध हुआ है। अत: निम्न ग्यारह स्तर में पाये जाने वाले मनुष्य किन नियम-सिद्ध प्रक्रिया द्वारा सुखी और दु:खी होते पाए जाते हैं, उसका स्पष्टीकरण निम्नानुसार है—यह सब व्यवहार सम्पर्कात्मक है—

- १. बलवान के साथ दया के रूप में,
- २. बुद्धिमान के साथ विवेक तथा विज्ञान के रूप में,
- ३. रूपवान के साथ चरित्र के रूप में,
- ४. पदवान के साथ न्याय के रूप में,
- ५. धनवान के साथ उदारता के रूप में,
- ६. विद्यार्थी के साथ निष्ठा के रूप में,
- ७. सेवक के साथ कर्तव्य के रूप में,
- ८. तपस्वी के साथ संतोष के रूप में,
- ९. लोक सेवक के साथ स्नेह के रूप में,
- १०. ईश्वर के साथ प्रेम के रूप में, और

● ११. रोगी तथा बालक के साथ आज्ञा पालन के रूप में सुखानुभूतियाँ सिद्ध हुई हैं। उपरिवर्णित इस विषय में मेरा अनुभव है कि; समस्त सत्यानुभूति किए हुए दिव्य पुरुषों की सम्मति, वर्णित सभी बिन्दुओं के अनुरूप ही है। फल ही है हम सही में एक सिद्ध होते हैं।

★ धर्मनीति के परिपालन से समस्त सम्पर्कात्मक तथा

सम्बन्धात्मक व्यवहार में क्या अपेक्षा की जाती है, जिससे कि जीवन सफल या असफल होता है, नीचे दर्शाया गया है । ऐसी धर्मनैतिक व्यवस्था तथा इसके लिए किया गया समस्त व्यवहार, प्रयोग तथा प्रयास 'पोषक' है अन्यथा में 'शोषक' है ।

● १. पुरुष का जीवन यतित्व से,

● २. स्त्री का जीवन सतीत्व से,

● ३. माता, पिता का जीवन व्यक्तित्व से,

● ४. पुत्र का जीवन नैतिकता के प्रति निष्ठा से,

● ५. शासन व्यवस्था, न्यायपूर्ण नियम के समर्थन व पालन से,

● ६. प्रजा का जीवन, अनुशासन को स्वीकारने से,

● ७. गुरु का जीवन, अनुभव को उपदेश करने से,

● ८. शिष्य का जीवन गुरु द्वारा दिये गये उपदेश के मनन, चिन्तन एवम् निदिध्यासन से,

● ९. सेवक का जीवन, कर्तव्य को स्वीकार लेने से,

● १०. स्वामी का जीवन, आदाय के अनुरूप प्रदाय करने से,

● ११. भाई या बहिन का जीवन, एक दूसरे के अनन्य विकास की आशा से तथा स्नेह सहित दायित्व वहन करने से,

● १२. मित्र का जीवन, परस्पर दिखावा रहित, उदारतापूर्ण, संग्रह रहित, विकास की ओर गति सहित अनन्यता से सफल या असफल है ।

● उपरोक्तानुसार व्यवहार करने में मनुष्य सफल हो जाय, यही धर्मनैतिक व्यवस्था का उद्देश्य है तथा शोषण के लिए प्राप्त समस्त प्रवृत्तियों का समूल नाश, मात्र उपरोक्तानुसार प्रतिष्ठित आचरण से ही संभव है ।

मानव राज्य-नीति—

परिभाषा—

∷ राज्य में प्राप्त अर्थ—तन एवम् धन—की सुरक्षा के लिए विधि-व्यवस्था प्रदान करने हेतु जो निश्चित कार्यक्रम है, उसे 'राज्य नीति' की संज्ञा है ।

∷ राज्य—जिस भू-क्षेत्र में मानव का आवास है और साथ ही जो एक ही शासन-तंत्र के अधीन हो, उसे 'राज्य' की संज्ञा है ।

आवश्यकता—

● मानव प्रयोग व व्यवसाय द्वारा प्राप्त अर्थ तथा प्राकृतिक सम्पदा की सुरक्षा की कामना करता है, क्योंकि उसमें उसका श्रम नियोजित एवम् प्रयोजित है । ऐसा सुरक्षा के लिये राज्य-नीति की जानकारी तथा परिपालन आवश्यक है ।

लक्ष्य अथवा साध्य—

● अमानवीयता से मानवीयता की ओर प्रगति हेतु मार्ग प्रशस्त करने के लिए साधन, अवसर तथा व्यवस्था की स्थापना एवम् सुरक्षा जो अतिमानवीयता को प्रोत्साहन देने में समर्थ हो ।

★ कामना के पोषण एवम् शोषणवादी तथ्यों का क्रम-दर्शन हर मानव के लिए अनिवार्यतम सिद्ध होता है, जिससे या जिसके बिना एक से अनन्त तक के लिए क्रमशः सफल अथवा असफल होने का प्रावधान नियमतः है । अस्तु, क्रम से क्रिया से सम्बद्ध प्रतिक्रिया का ज्ञान ही आवश्यकीय तथा यही ज्ञान, अनावश्यकीय क्रिया के भ्रम से मुक्त होने का एकमात्र साधन है । ऐसी सफलता अर्थात् भ्रम से निवारण के लिए एवम् दुःख से मुक्ति पाने की दृष्टि से समस्त व्यवस्थागत कार्य प्रणाली को समझने, समझाने, स्थापन व अनुभव करने व कराने का यत्न है ।

★ राज्य के लिए आवश्यकीय व्यवहार, व्यवस्था, व्यापार, शिक्षा, प्रचार, व प्रदर्शन ही विधि है तथा विपरीत में निषेध है। विधि व निषेध का निर्णय उनके आर्थिक और सामाजिक अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर आधारित होने के कारण ही आज जिसे आर्थिक व सामाजिक परिस्थितिवश विधि मान लिया गया है अथवा हठ या बलपूर्वक मनवा लिया गया है, उसके कालान्तर में परिवर्तित होने पर जो होता है, वह निषेध हो जाता है। इस प्रकार विधि व निषेध के सम्बन्ध में अनिश्चितता के कारण अनिश्चित अवधि के लिये समस्या बनी ही रहती है।

● यदि समस्या है तो समाधान होगा ही।

● कोई भी मनुष्य अनिश्चित विधि व व्यवस्था नहीं चाहता। विधि एवम् व्यवस्था के प्रति विश्वास एवम् निष्ठा के निरन्तरता के लिये भी उसकी स्थिरता आवश्यक है।

★ इसके पूर्व में न्यायवादी व अवसरवादी व्यवहार का विश्लेषण किया जा चुका है। अवसरवादी-नीति से अनिश्चित दिशा, गति एवम् उपलब्धि ही सम्भव है, जिससे व्यवस्था में स्थिरता तथा विश्वास नहीं उत्पन्न कराया जा सकता। साथ ही यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि न्यायवादी नीति के विकास तथा व्यवहारान्वयन के लिए मानवीयता ही आधार है।

★ विधि का लक्ष्य है, निषेध का दमन और व्यवस्था का लक्ष्य है विधि का संरक्षण एवम् संवर्धन। उपरोक्तानुसार निर्णीत विधि से अमानवीयता का दमन होता है तथा ऐसी विधि के लिये दी गई व्यवस्था का लक्ष्य मानवीयता का संरक्षण एवम् संवर्धन ही है। इस प्रकार विकसित विधि व व्यवस्था की उपलब्धि विश्वास है।

× विधि एवम् व्यवस्था न्याय के पक्षपाती बन कर विश्वास पैदा करते हैं। निषेध भय उत्पन्न करता है।

विधि के अनुरूप व्यवस्था पक्ष, मानवीयतापूर्ण व्यवसाय, शिक्षा, उत्पादन, उपभोग व वितरण के कार्यकलाप से मार्ग-दर्शन करता है, सुगमता प्रदान करता है, फलस्वरूप व्यवसाय में विश्वास उत्पन्न करता है।

× ऐसे राज्य व विधि और व्यवस्था की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिए शिक्षा, व्यवसाय, व्यापार, राजस्व, (टैक्स व लगान) वित्त, तथा सुरक्षा, इन छः प्रधान पक्षों का अध्ययन आवश्यक है। इन सबमें शिक्षा अति महत्वपूर्ण है। शिक्षा नीति की अपूर्णता बाकी सभी पक्षों को प्रभावित करती है।

● विकसित ही अविकसित को शिक्षा प्रदान करने में समर्थ है। शिक्षा का प्रयोजन है, सामाजिकता का विकास एवम् समृद्धि। ऐसी सामाजिकता मानवीयतापूर्ण तथा ऐसी समृद्धि समाधान के साथ होनी चाहिए।

× उपरिवर्णित धर्मनीतिक तथा राज्य-नैतिक व्यवस्था के लिए—जो मानवीयतापूर्ण दृष्टि, स्वभाव तथा विषयों के प्रति मनुष्य में रुचि उत्पन्न कर सके तथा इस रुचि को व्यवहार में आचरित करने योग्य अवसर तथा साधन उपलब्ध करा सके, शिक्षा नीति है। इसका वर्णन आगे यथा-स्थान किया गया है।

★ समस्त मानव समाज द्वारा बौद्धिक, सांस्कृतिक एवम् प्राकृतिक क्षेत्र में ही विभिन्न कार्य सम्पादित किये जा रहे हैं। इन तीनों क्षेत्रों में किया गया कार्य ही मानव के लिए संपूर्ण व्यवहार है।

× राज्य-नीति का लक्ष्य तन एवम् धन की सुरक्षा है तथा इसके लिए विधि तथा व्यवस्था प्रदान करना है। इस क्रम में यह जान लेना आवश्यक है कि बौद्धिक नियम की अवधारणाएँ ही क्रम से व्यवहार काल में प्राकृतिक

तथा सांस्कृतिक नियमों का अनुसरण करती हैं, जिससे विकास या ह्रास सिद्ध होता है। यहाँ हम बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक क्षेत्र में किए जा रहे व्यवहार के विधि व निषेध पक्ष का अध्ययन करेंगे।

★ सदुपयोगी राज्य-नीति के निर्धारण के लिए विधि व निषेध निम्नानुसार परिलक्षित होता है।

बौद्धिक क्षेत्र

विधि	निषेध
● १. कर्तव्य-पूर्ण असंग्रह (व्यय के लिए आय)	● १. संग्रह (आय को व्यय से मुक्त करने का प्रयास)
● २. स्नेह (आवश्यकीय नियम से निर्विरोधिता)	● २. द्वेष (आवश्यकीय नियम का विरोध)
● ३. विद्या (संशय एवम् विपर्यय से मुक्त जानकारी)	● ३. अविद्या (संशयात्मक एवम् विपर्ययपूर्ण जानकारी)
● ४. सरलता (दिखावा रहित जीवन, अन्यों में गुरु-मूल्यन)	● ४. अभिमान (दिखावा पूर्ण जीवन, अपने में गुरु-मूल्यन)
● ५. अभय (विवेक)	● ५. भय (अविवेक)

सांस्कृतिक क्षेत्र

● १. स्वधन	● १. परधन
● २. स्व-नारी या स्व-पुरुष (सामाजिक निर्णय अनुसार)	● २. पर-नारी या पर-पुरुष (सामाजिक निर्णय के प्रतिकूल)
● ३. दया (जीने देना)	● ३. पर-पीड़ा (दूसरों के जीवन में हस्तक्षेप)

प्राकृतिक क्षेत्र

★ १. प्राकृतिक सम्पत्ति (खनिज वनस्पति तथा पशु) का उनके उत्पादन के अनुपात में व्यय।	★ १. प्राकृतिक सम्पत्ति का उत्पादन से अधिक व्यय (अतिरिक्त व्यय)
★ २. प्राकृतिक संपत्ति के उत्पादन में विघ्न न उत्पन्न करना।	★ २. उत्पादन से कम व्यय करना। (अनाव्याप्ति व्यय)
★ ३. उत्पादन में सहायक बनना।	★ ३. उत्पादन में विघ्न डालना।

× उपरोक्तानुसार विधि एवम् निषेध को मूल आधार मानकर समस्त अर्थ—तन एवम् धन—की सुरक्षा की नीति निर्धारित होनी चाहिए।

● राष्ट्रीय स्तर पर राज्य-नीति निम्न छः दृष्टिकोण से निर्धारित की जानी चाहिए तथा उसका लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए। इन बिन्दुओं के आधार पर मानव के सह-अस्तित्व, विकास तथा समृद्धि की दृष्टि से शासन तथा अनुशासन का सामान्यीकरण महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

× १. राष्ट्रीय सुरक्षा,

× २. आर्थिक सुरक्षा,

× ३. व्यावसायिक सुरक्षा,

× ४. वाणिज्य सुरक्षा,

× ५. विद्याध्ययन सुरक्षा, और

× ६. नैतिक सुरक्षा।

★ १. राष्ट्रीय सुरक्षा – राष्ट्रीय जन-जाति में राष्ट्रीय स्वत्व की धारणा एवम् निष्ठा को सुरक्षित रखने की दृष्टि से

सीमावर्ती सुरक्षा अति आवश्यक है, जिससे दूसरा राष्ट्र आतंक न उत्पन्न कर सके। इसके लिये राष्ट्रीय सुरक्षात्मक नीति का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को ध्यान में रख कर करना चाहिये, जिससे संबंधित राष्ट्रान्तर्गत व्यक्ति, परिवार तथा समाज को सुरक्षा का अनुभव हो सके और प्रत्येक व्यक्ति भय से रहित होकर व्यवसाय में रत हो सके, जिससे समृद्धि-पूर्ण जीवन का अनुभव कर सकने का अवसर उपलब्ध हो। स्पष्ट है कि ऐसी नीति मात्र मानवीय दृष्टि को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित की जा सकती है, साथ ही ऐसी नीति में अन्य राष्ट्रों के शोषण की कोई संभावना न होने से परस्पर सह-अस्तित्व के लिये विश्वास के आधार का निर्माण होगा।

★ २. आर्थिक-सुरक्षा—राष्ट्रीय अर्थ सुरक्षा का नीति निर्धारण निम्न बिन्दुओं के आधार पर किया जाना चाहिये—

× १. शासन द्वारा सभी व्यक्तियों को उनकी क्षमता, पात्रता, एवम् योग्यता के आधार पर कार्य में रत करने वाली नीति का विकास।

× २. अधिकाधिक उत्पादन के लिये प्रोत्साहन देना तथा तदनुरूप साधन एकत्र करना।

× ३. अधिकतम या न्यूनतम आय को निकटतम करने की नीति का विकास करना।

× ४. क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के आधार पर गौरव प्रदान करना।

× ५. उत्पादन हेतु अधिकतम धन व्यय करने हेतु प्रोत्साहन देने वाली नीति का विकास करना।

× ६. अनेक जाति, वर्ग, मत एवम् पक्षात्मक विचारों से मुक्त नीति का विकास करना।

× ७. परधन, परनारी/पर-पुरुष व पर-पीड़ात्मक वृत्तियों का उन्मुलन करने वाली नीति का विकास करना।

× ८. शोषणात्मक प्रवृत्तियों का दमन करने वाली नीति का विकास करना।

× ९. शासन के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों अथवा नागरिकों को एक सा न्याय दिलाने वाली पद्धति का विकास करना।

★ समस्त अर्थ नीति द्वारा मानवीयता-पूर्ण दृष्टि, स्वभाव व विषय को लक्ष्य में रखते हुए समस्त संपर्क तथा संबंधों का निर्वाह करने में व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक को समृद्ध होने की पूर्ण संभावना होनी चाहिये, जिसका मूर्त रूप स्वधन, स्व-नारी/स्व-पुरुष एवम् दया पूर्ण क्रियाओं में निष्ठा एवम् परधन, पर-नारी/परपुरुष एवम् पर-पीड़ात्मक क्रियाओं का दमन ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा समस्त संपर्क एवम् संबंध और संपत्ति का साकार व्यवहार्य रूप स्वधन, स्व-नारी/स्व-पुरुष और दया युक्त व्यवहार की उपलब्धि ही है।

★ व्यावसायिक सुरक्षा—प्रत्येक व्यक्ति के श्रम और तकनीक का पूर्ण सदुपयोग करते हुये अर्थ के उत्पादन की दिशा में किये गये प्रयास की 'व्यवसाय' संज्ञा है।

⁑ प्राप्त श्रम एवम् तकनीक का सदुपयोग ही अर्थ-सुरक्षा है।

× मानव के लिये आवश्यकीय व्यवसाय मुख्यतः दो ही हैं—१. कृषि और २. उद्योग। अन्य जितने भी व्यवसाय हैं, वह इनके आश्रय में तथा इनके पूरक सिद्ध होते हैं।

× व्यवसाय की सुरक्षा के लिये शासन को निम्न तथ्यों के आधार पर नीति निर्धारण करना चाहिये।

× १. निपुणता एवम् कुशलता को वरीयता प्रदान करना,

× २. निपुण एवम् कुशल व्यक्ति को साधन उपलब्ध कराना,

× ३. मनुष्योपयोगी वस्तुओं, यथा, आहार, आवास, अलंकार, दूरगमन, दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन के लिये वस्तुओं तथा उपकरणों पर प्रयोग तथा प्रयास को सहायता देने वाली नीति का विकास करना;

× ४. अधिकाधिक उत्पादन करने वाली, निपुणता तथा कुशलता का सामान्यीकरण करने वाली नीति का विकास करना,

× ५. श्रम के फल का शोषण न हो, ऐसी नीति का विकास करना,

× ६. व्यवसाय में जो बाधा उत्पन्न करते हों, उनको दण्डित करने वाली नीति का विकास करना,

× व्यवसाय की सुरक्षा के लिये नीति निर्धारण करते समय न्याय के आश्रय से या न्यायोचित व्यावसायिक नीति का विकास करने से ही संपर्क एवम् संबंधों के निर्वाह हेतु उपयुक्त उपयोग, उपभोग, वितरण, प्रयोग व व्यवसाय के लिये समुचित अवसर उपलब्ध हो सकेगा।

★ वाणिज्य सुरक्षा—उत्पादित वस्तुओं को लाभ सहित दूसरों को प्राप्त कराने वाले प्रयास की 'वाणिज्य' संज्ञा है।

× वाणिज्य-सुरक्षा के लिये निम्न आधार पर नीति निर्धारण होना चाहिए।

× १—व्यापारिक लाभ के वितरण हेतु सह-अस्तित्ववादी दृष्टि व व्यापार पद्धति को प्रोत्साहित करने वाली नीति का निर्धारण करना।

× २—श्रम के फल पर ही निर्भर रहने वाली व्यापार पद्धति का विकास अर्थात् व्यापार में ब्याज द्वारा आय पद्धति का उन्मूलन करने की नीति का विकास करना।

★ वाणिज्य अन्तर्राष्ट्रीय एवम् राष्ट्रीय इन दो भेदों से सम्पन्न होता है।

× अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य शोषण अथवा आदान प्रदान (लाभ हानि रहित) के लक्ष्य भेद से सम्पन्न होता है, जो वस्तु व मुद्रा के माध्यम से होता है।

× अन्तराष्ट्रीय वाणिज्य, आदान प्रदान की नीति अपनाने से सफल होता है, क्योंकि यह प्रणाली शोषण मुक्त होने के कारण सह-अस्तित्व की भावना स्थापित करती है और आपसी सद्भाव व विश्वास की स्थापना करती है। यह प्रणाली एक दूसरे को समृद्ध बनाने तथा विकास की ओर उन्मुख करने में सहायक होती है।

× राष्ट्रीय वाणिज्य, लाभ-संग्रह व लाभ-वितरण के आशय-भेद से सम्पन्न होता है। उत्पादन एवम् उपभोक्ता के बीच में स्थित इकाई संग्रहवादी विचार से शोषण करती है, जिससे आर्थिक विषमता तथा असंतुलन उत्पन्न होकर सामाजिक विषमता का प्रादुर्भाव होता है। यह विषमता असन्तोष को जन्म देती है, जो अन्ततोगत्वा 'क्रान्ति' में परिणित होता है। शासन का यह दायित्व है कि ऐसी

नीति का विकास करे कि शोषण की संभावना ही समाप्त हो जाय । अतः अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय वाणिज्य भी न्यायाश्रित होना चाहिए । न्यायाश्रित वाणिज्य ही परस्पर पोषक होगा अन्यथा शोषण है ही ।

★ विद्याध्ययन सुरक्षा—विधिवत वस्तुस्थिति का परिचय कराने वाली जानकारी की 'विद्या' संज्ञा है। चैतनायुक्त स्मरण सहित विधिवत जानकारी के लिये किए गए प्रयास की 'अध्ययन' संज्ञा है।

× ऐसी जानकारी की आवश्यकता मनुष्य को इसलिए है कि वह भौतिक समृद्धि तथा बौद्धिक समाधान से सुखानुभव करना चाहता है।

× अध्ययन को सफल बनाने का दायित्व अध्यापक, अध्यापन तथा शिक्षा प्रणाली पर है, क्योंकि यह चारो परस्पर पूरक हैं। फिर भी शिक्षा प्रणाली का इसमें बहुत महत्वपूर्ण स्थान है ।

× अध्ययन का दायित्व विद्यार्थी की क्षमता पर है। शिक्षा प्रणाली, अध्यापक, माता, पिता तथा अध्ययन यह सब एकसूत्रात्मक होने से ही सफल विद्याध्ययन पद्धति का विकास संभव है, जिससे कृतज्ञता तथा सह-अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा तथा शासन व प्रजा दोनों शोषण से मुक्त हो सकेंगे ।

× उपरोक्तानुसार शिक्षा प्रणाली के लिये शिक्षा नीति के निर्धारण के लिये धर्म-नीति और राज्य-नीति का निर्भ्रम ज्ञान आवश्यक है ।

× शिक्षा नीति का आधार मानवीयता तथा

सामाजिकता होनी चाहिये । मानवीयता तथा सामाजिकता एकदेशीय तथ्य न होकर सार्वभौमिक तथ्य हैं । इसलिये उनको आधार मानकर विकसित शिक्षा प्रणाली से ऐसे व्यक्तित्व-संपन्न नागरिकों का निर्माण होगा, जिनकी सह-अस्तित्व तथा पोषण में दृढ़ निष्ठा होगी ।

शिक्षा नीति का लक्ष्य है—

× 'मानवीय दृष्टि, गुण व विषय संपन्न नागरिकों का निर्माण, जिनमें अतिमानवीयता के लिये जिज्ञासा हो ।'

★ वर्तमान शिक्षा नीति के समक्ष ऐसी कोई स्पष्ट रूप-रेखा नहीं है अथवा स्पष्ट लक्ष्य नहीं है, जिसके परिप्रेक्ष्य में इसकी उपादेयता का निर्णय किया जा सके । उपरोक्तानुसार लक्ष्य-निर्धारण से ही पूरी शिक्षा-प्रणाली की एक दिशा निर्धारित हो जाती है ।

× वर्तमान शिक्षा पद्धति के अवलोकन से, वर्तमान शिक्षा-पद्धति में यह पाया जाता है कि किसी भी विषय का ज्ञान पूर्णतः विद्यार्थियों को नहीं होता । जिन विषयों का शिक्षण न होने से यह अध्ययन अपूर्ण रह जाता है उसे नीचे दर्शाया गया है :—

× १. विज्ञान के साथ चैतन्य पक्ष का अध्ययन ।

× २. मनोविज्ञान के साथ संस्कार पक्ष का अध्ययन ।

× ३. अर्थशास्त्र के साथ प्राकृतिक एवम् वैकृतिक ऐश्वर्य के सदुपयोगात्मक तथा सुरक्षात्मक नीति-पक्ष का अध्ययन ।

× ४. समाज-शास्त्र के साथ मानवीय संस्कृति तथा सभ्यता का अध्ययन ।

× ५. राजनीति शास्त्र के साथ मानवीयता के संरक्षण एवम् संवर्धन के नीति-पक्ष का अध्ययन।

× ६. दर्शन शास्त्र के साथ क्रिया पक्ष का अध्ययन।

× ७. इतिहास एवम् भूगोल के साथ मानव तथा मानवीयता का अध्ययन।

× ८. साहित्य-शास्त्र के साथ तात्विकता का अध्ययन।

★ उपरिवर्णित बिन्दुओं के साथ जितने भी पूरक तथ्यों को निर्देशित किया गया है, उन सबको एक समुच्चयात्मक पाठ्यक्रम-नीति के रूप में विकसित करना चाहिये तथा सुलभ बनाना चाहिये। तभी सब विषयों के अध्ययन के अनन्तर, 'जो व्यवहार में चरितार्थ होना है' अर्थात विद्वानों द्वारा चिराकांक्षित मानवीयता की अभिव्यक्तियाँ सुलभ सबल होकर निरन्तरता को प्राप्त कर सकेंगी। फलस्वरूप समाज में सामाजिकता से प्राप्त होने वाली स्वर्गीयता का अनुभव सर्वसुलभ एवम् सामान्य हो सकेगा।

—★—

卐 सत्रह

● जानकारी को प्रगट न करना या न कर सकना ही रहस्य है तथा इसके लिए जो अक्षमता है, उसे 'रहस्यता' की संज्ञा है।

● इकाई क्रिया है। जानकारी, मात्र इकाई की है। इकाई ही इकाई की जानकारी करती है। विकसित इकाई, अविकसित इकाई की जानकारी करती है।

● प्रत्येक इकाई का सर्वांगीण दर्शन उसके रूप, गुण, स्वभाव व धर्म से होता है। इनमें से रूप, गुण, और स्वभाव की जानकारी होती है और धर्म की मात्र अनुभूति ही सम्भव है, जो अनुभव-प्राप्त इकाई द्वारा एक प्रक्रिया-बद्ध अनुभव के सम्भावना-पूर्ण आदेश, संदेश एवम् निर्देश से सम्भव है।

● जो अनुभव पक्ष है, वह चैतन्य पक्ष से प्रत्याशित एवम् प्राप्त तथ्य है, जो कि पंचेन्द्रियों द्वारा किए गए आस्वादन का सारभूत सुख या दुःख है।

● चैतन्य सदा सुख की पिपासा से तृषित रहता है।

★ सुख की उपलब्धि के लिए पंचेन्द्रियों द्वारा अजस्त्र प्रयत्न के पश्चात् भी उसकी (सुख की) अक्षुण्णता या निरन्तरता न पाने के परिणाम स्वरूप ही ऐसी सुख की निरन्तरता की संभावना की ओर पुनः प्रयत्नशील होना है। ऐसी सम्भावना इस सिद्धान्त पर है कि जिसका चैतन्य पक्ष जितना ही अधिक विकसित है, उसके उतने ही विकास की सम्भावना है। यही कारण है कि मनुष्य अपने से अधिक विकसित से सम्पर्क एवम् सम्बन्ध के लिए प्रयत्नशील रहता है।

● रहस्यता का उन्मूलन चैतन्य पक्ष (बौद्धिक) के विकास के स्तर पर आधारित है। चैतन्य पक्ष (बौद्धिक) के विकास के स्तर-भेद से उसकी अवस्थाएँ हैं।

● बौद्धिक विकास—पूर्ण विकसित, अर्ध विकसित, अल्प विकसित तथ अविकसित भेद से है। इसे ही पूर्ण चेतन, अर्ध चेतन, अल्प चेतन तथा अचेतन के नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

● चैतन्य इकाई में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि व आत्मा इन पांच अंशों की क्रिया है।

● मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलाप में बौद्धिक प्रयुक्ति है। यह क्रम से आशा, विचार, इच्छा, संकल्प व अस्तित्वानुभूति है।

● मन द्वारा आशा, वृत्ति के द्वारा आशा के अनुरूप विचार, चित्त के द्वारा विचार के अनुरूप इच्छा तथा बुद्धि द्वारा इच्छा के अनुरूप तथा उसकी पूर्ति हेतु संकल्प तथा संकल्प के अस्तित्व के लिए आत्मा से अपेक्षा की जाती है।

● विकास के क्रम में मन की आशा वृत्ति की अनुरूपता में, वृत्ति के द्वारा विचार चित्त की अनुरूपता में, चित्त की इच्छा बुद्धि के बोधन के अनुरूप तथा बुद्धि आत्मा की अस्तित्वानुभूति के लिए संबद्ध होगी। फलत: प्रत्यावर्तन-क्रिया सिद्ध होगी।

● स्थूल शरीर और मन के बीच में आशा, मन और वृत्ति के मध्य में विचार, वृत्ति और चित्त के बीच में इच्छा, चित्त और बुद्धि के मध्य में संकल्प तथा बुद्धि और आत्मा के मध्य में संकल्प के अस्तित्व की अपेक्षा रहती ही है तथा यह आवर्तन-क्रिया है।

● स्थूल शरीर के द्वारा आस्वादन और चयन के लिये मन में आशा, मन की इस आशा के समर्थन के लिये वृत्ति में विचार, वृत्ति के ऐसे विचार के समर्थन के लिये चित्त में इच्छा, चित्त की ऐसी इच्छा के समर्थन के लिये बुद्धि में संकल्प तथा बुद्धि के ऐसे संकल्प के लिये आत्मा के समर्थन की कामना बनी ही रहती है।

● इस परस्परता में विषमता रहती है। कारण शरीर से मन, मन से वृत्ति, वृत्ति से चित्त, चित्त से बुद्धि तथा बुद्धि से आत्मा विकसित इकाई सिद्ध है।

★ मन के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संचालन है, जिससे कि इनके बीच में आशा बनी रहती है। परन्तु वृत्ति मन से विकसित होने के कारण मन की आशा के अनुरूप नहीं बन पाती और परस्पर विषमता बनी ही रहती है। वृत्ति, अपने अनुसार, मन और शरीर का उपयोग चाहती है। इसी क्रम से वृत्ति, चित्त, बुद्धि तथा आत्मा में विषमता बनी ही रहती है। यह विषमता ही श्रम की अनुभूति तथा विश्राम की तृषा के लिये कारण सिद्ध होती है।

× उपरोक्त बताये क्रम के विलोम में प्रत्यावर्तन-क्रिया है, जो निम्नानुसार है—वृत्ति के अनुसार मन में आशा तथा तदनुसार शरीर संचालन, चित्त के अनुसार वृत्ति में विचार, बुद्धि के अनुसार चित्त में इच्छा तथा आत्मानुभव के लिये बुद्धि में संकल्प।

× वृत्ति में उत्पन्न विचारों के अनुरूप मन में आशा का होना तथा इसकी पूर्ति हेतु ही शरीर का उपयोग एवम् उपभोग करने की, चित्त में उत्पन्न इच्छा को कार्यरूप देने हेतु विचार करने की, बुद्धि में आत्मानुभव के लिये किये गये संकल्प के अनुसार इच्छा की अपेक्षा का बने रहना ही प्रत्यावर्तन-क्रिया है।

× आत्मा के मध्यस्थ क्रिया होने के कारण—बुद्धि, चित्त, वृत्ति, मन तथा शरीर—इसके द्वारा अनुशासित तथा नियन्त्रित होते ही हैं। इस नियन्त्रण के विरोध के क्रम में जो प्रयास है, वह ही विषमता को जन्म देता है।

× मन, वृत्ति से, वृत्ति चित्त से, चित्त बुद्धि से, तथा बुद्धि आत्मा से आप्लावित रहती ही है। फलत: इस क्रम में क्रियाशील होने पर, तृप्त होने के कारण, उनके

क्रिया-कलाप में पूर्ण सक्षमता आ जाती है, जिससे श्रम की अनुभूति नहीं होती। ऐसी स्थिति में शरीर पूर्णतः मन द्वारा नियंत्रित होता है।

● जड़ इकाई ही विकास-पूर्वक चैतन्य अवस्था अथवा पद को पाती है। (इसका वर्णन पूर्व में ही किया जा चुका है)

● पदार्थावस्था से ज्ञानावस्था तक की इकाई चेतना-क्रम से पदार्थावस्था में सुप्त, प्राणावस्था में मूर्च्छित, जीवावस्था में अविकसित तथा ज्ञानावस्था में अल्प विकसित, अर्ध विकसित तथा पूर्ण विकसित है। ज्ञानावस्था की अल्प विकसित इकाई को 'भ्रान्त', अर्ध-विकसित इकाई को 'भ्रान्ताभ्रान्त' तथा पूर्ण विकसित इकाई को 'निर्भ्रान्त' की संज्ञा से भी सम्बोधित किया गया है।

★ यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चेतना न तो सुप्त होती है और न ही जागृत अथवा विकसित। सुप्त और विकसित का तात्पर्य यहाँ इकाई के विकासानुसार चेतना के प्रयोजित, नियोजित और अभिव्यक्त होने से है, जिसका मापदण्ड भी इकाई के विकासानुसार ही है।

× उपरोक्त क्रमानुसार जड़ इकाई विकास को पा कर जीवावस्था में चैतन्य हो जाती है। तात्पर्य यह है कि 'जीव-पुंज' के रूप में एक परमाणु, उपलब्ध हो जाता है।

● जीवावस्था में, मन में मात्र आशावादी प्रवृत्ति रहती है। अतः इसे अविकसित की संज्ञा है। जीवावस्था में बौद्धिक पक्ष अविकसित रहता है। उस अवस्था में मन, शरीर द्वारा नियंत्रित होता है तथा वृत्ति और चित्त उपेक्षित रहते हैं। मन का सीधा सम्बन्ध बुद्धि से होता है। इस अवस्था में बुद्धि बहुत ही कम विकसित रहती है।

● ज्ञानावस्था में बुद्धि तीन अवस्थाओं में परिलक्षित होती है :—

★ १. अल्प-विकसित—मन में इच्छापूर्वक विचार एवम् आशावादी प्रवृत्ति हो तो उसे अल्प-विकसित की संज्ञा दी जाती है। इस दशा में मन वृत्ति, चित्त-तंत्रित होते हैं।

★ २. अर्ध-विकसित—आत्मबोध-रहित संकल्प-पूर्वक इच्छा, विचार व आशा की प्रवृत्ति को अर्ध-विकसित की संज्ञा है। इस दशा में मन वृत्ति व चित्त, बुद्धि तंत्रित होते हैं।

★ ३. पूर्ण-विकसित—आत्म-बोध-सहित संकल्प-पूर्वक इच्छा, विचार व आशा प्रवृत्ति को पूर्ण-विकसित की संज्ञा है। इस दशा में मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि, आत्मा द्वारा नियंत्रित एवम् अनुशासित होते हैं।

● केवल वृत्ति और मन के संयोग की स्थिति में मनुष्य जीवन में निद्रा एवम् स्वप्न का कार्य ही सम्पादित होता है।

● आत्म-बोध पर्यन्त मनुष्य के द्वारा जागृत, स्वप्न, एवम् सुषुप्ति अवस्था में कायिक, वाचिक तथा मानसिक साधनों से सम्पन्न होने वाले समस्त क्रिया कलाप के मूल में अहंकार ही है।

● असत्य-बोध सहित जो बुद्धि है, उसे 'अहंकार' की संज्ञा है। आत्मबोध होने तक अहंकार का अभाव नहीं है।

● इसी अहंकार को, बुद्धि में अहंकार की संज्ञा से, चित्त में 'अभिमान' की संज्ञा से, वृत्ति में 'हठ' की संज्ञा से तथा मन में 'आसक्ति और आवेश' की संज्ञा से जाना जाता है।

● आवेश एवम् आसक्ति मनुष्य के जीवन को सफल बनाने में सर्वदा असमर्थ हैं। इसीलिए आवेश, एवम् आसक्ति के उन्मूलन के लिए आदेश, प्रयोग एवम् प्रयास है।

● वृत्ति के आश्रय में मन, चित्त के आश्रय में वृत्ति, बुद्धि के आश्रय में चित्त का न होना ही मन और वृत्ति, वृत्ति और चित्त, चित्त और बुद्धि तथा

बुद्धि और अहंकार के बीच साविपरीतता है। यह साविपरीतता ही बौद्धिक रहस्य है।

★ उपरोक्त वर्णित साविपरीतता को समाप्त करने तथा बौद्धिक रहस्यता अथवा अहंकार का उन्मूलन करने के लिए निश्चित प्रक्रिया है। इस निश्चित प्रक्रिया के अनुसार अभ्यास एवम् व्यवहार से ही बौद्धिक रहस्यता का उन्मूलन होता है। ऐसी प्रक्रिया दो प्रकार से गण्य हैं :—

★ एक—अनुकरण तथा अनुसरण, और

★ दो—अनुसंधान।

★ एक. अनुकरण तथा अनुसरण इसका विशद् विश्लेषण पूर्व के अध्यायों में यथा-स्थान किया गया है, जिसका सारभूत कार्यक्रम है।

× १. न्यायपूर्ण व्यवहार का अनुकरण या अनुसरण करना।

× २. धर्म-पूर्ण विचार में प्रसक्त (प्रवृत) होना।

× उपरोक्त दोनों कार्यक्रमों की दृढ़ता एवम् निष्ठा की अपेक्षा में सत्यता की अनुभूति का अधिकार परिणाम-पूर्वक प्राप्त होता है, फलस्वरूप बुद्धि आप्लावित हो जाती है।

× दो. अनुसंधान—जो आविष्कारात्मक अनुभूति है, उसका साधक पूरा अध्ययन करता है। पूरे अध्ययन से तात्पर्य है क्रिया की आरंभिक स्थिति अर्थात् ह्रास की अंतिम स्थिति तक अध्ययन करना।

× इस अध्ययन से साधक को यह स्पष्ट होता है कि अंतिम से अंतिम ह्रास एक सूक्ष्म परमाणु या इससे भी

सूक्ष्म हो सकता है। यह परिणाम कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, अन्ततोगत्वा क्रिया ही है। अब उसे यह भी स्पष्ट होता है कि समस्त क्रियाएँ महाकाश में आश्रय प्राप्त की हुई हैं। यह महाकाश शून्य है। इस शून्य की सर्वत्र समान अवस्थिति ही एक मात्र कारण है कि समस्त इकाईयों की क्रिया के लिए समान रूप से प्रेरणा पाने के लिये सत्ता उपलब्ध है। ऐसे समाधितप्त साधक ने, जिसने संपूर्ण ह्रास की ओर देखा है, स्वयम् को भी देखने का प्रयास किया और अपने को इस सतत् विकासशील सृष्टि के किसी विकासांश में पाया। अब साधक यहाँ से विकास की ओर अध्ययन करता है। अध्ययन-पूर्वक यह निर्णय में आता है कि विकास का चरमोत्कर्ष, जिस व्यापक सत्ता के कारण समूची क्रियाएँ अनवरत क्रियाशील हैं, उसी व्यापकता की अनुभूति योग्य क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता का उपार्जन ही है तथा एकमात्र परम पुरुषार्थ है। साधक यह भी अनुभव करता है कि यह मात्र उसका अथवा एक साधक का लक्ष्य नहीं अपितु समूची इकाईयों के विकास का अंतिम लक्ष्य है। अतः ऐसी क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता को उपार्जित करने के लिए अमानवीयता से मानवीयता की ओर, न्यायपूर्ण व्यवहारपूर्वक स्वयं को अपनी स्थिति में पाता है। साधक जब अभ्यासपूर्वक पूर्णतया न्यायपूर्ण व्यवहार व धर्मपूर्ण विचार में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो तत्काल ही ऐसी तात्विकता सहित प्रतिभा-सम्पन्न साधक, देव मानव एवम् दिव्य मानवीयता के लिए जो शेष विकास है, उसकी पूर्ति हेतु चैतन्य पक्ष की क्षमता को विकसित करना आरंभ कर देता है। फलस्वरूप ही देव मानवीयता और दिव्य मानवीयता का पात्र बनता है और व्यापकता की अनुभूति करने लगता है। इस उपलब्धि के फलस्वरूप ही अनुभव करता है कि जीवन सफल हो गया, विकास की चरम उपलब्धि हुई। यह उसमें 'प्राप्त अनुभूति के आनन्द' को स्थिर कर देता है। ऐसी उपलब्धि के अनन्तर रहस्यता के

उन्मूलन करने की दक्षता, व्यवहार में मानवीयता की परिपूर्ण उपादेयता को सिद्ध करने में उनका प्रस्तुतीकरण ही प्रमाण बन जाता है।

× उपरोक्तानुसार जब साधक मानवीयतापूर्ण व्यवहार एवम् धर्म पूर्ण विचार में प्रतिष्ठित हो जाता है तब मन वृत्ति, चित्त और बुद्धि की क्रियाएँ किस प्रकार से सम्पादित होती हैं इसका अनुभूतिपरक वर्णन नीचे दिया गया है।

● मन जब वृत्ति का संकेत ग्रहण करने योग्य होता है, तब न्यायपूर्ण व्यवहार में परिवर्तित होता है, जो मित्र आशाएँ हैं। मैत्री तथा न्याय की प्रत्याशा ही स्नेह के रूप में प्रदर्शित होती है। स्नेह की प्रतिक्रिया ही सुख तथा सुख न्याय की निर्विरोधिता ही है। मानवीयता के संरक्षणात्मक, परिपालनात्मक और आचरणात्मक नियमों की ही 'न्याय' संज्ञा है।

● वृत्ति जब चित्त का संकेत ग्रहण करने योग्य होती है, तब शान्ति का अनुभव होता है। विचार की पुष्टि चिन्तन (चित्रण) से ही है। चिन्तन से ही प्रक्रिया, फल और प्रयोजन का निर्णय होता है।

★ अतः मन, वृत्ति तथा चित्त की एकसूत्रता से (परानुक्रमता से) न्यायपूर्ण व्यवहार के लिए मित्र आशाएँ जन्मती हैं जो प्रक्रिया, फल और प्रयोजन का निर्णय करती हैं, जिसे 'धर्म-पूर्ण विचार' की संज्ञा है।

● चित्त जब बुद्धि का संकेत ग्रहण करने योग्य विकसित हो जाता है तब सन्तोष की अनुभूति होती है। फलस्वरूप स्वचालित मानव जीवन का प्रादुर्भाव होता है अर्थात् मानव स्व-तंत्रित होता है।

× ऐसे स्वतंत्र मानव में अधिक उत्पादन, कम उपभोग, अपव्यय का अत्याभाव होता है तथा वह

अधिकाधिक विकास के लिए प्रेरणा श्रोत होता है। मनुष्य में स्वंतत्रता की तृषा पाई ही जाती है।

अ र्था त्

● मन, वृति; चित्त और बुद्धि की एकसूत्रता से (परानुक्रमता से) न्यायपूर्ण व्यवहार एवम् धर्मपूर्ण विचार के लिए सत्य भासित होता है। ऐसी स्थिति में 'अल्प-बोध' होता है, जिसका विकल्प (बदलना) ही स्वभाव है। इसी की 'अहंकार' संज्ञा है।

● बुद्धि जब आत्मा का संकेत ग्रहण करने योग्य विकास को पाती है तब 'स्व-बोध' होता है जिसे 'आत्मबोध' भी कहते हैं। आत्मबोध से सत्य संकल्प होता है। सत्य संकल्प मात्र सत्य पूर्ण ही है।

अ र्था त्

● मन, वृत्ति, चित्त और बुद्धि आत्मानुशासित होने पर न्यायपूर्ण व्यवहार धर्म-पूर्ण विचार में सत्यानुभूति के कारण प्रतिष्ठित होता है।

● निश्चयात्मक निरन्तरता ही संकल्प है। निश्चय सहित चित्रण ही योजना है तथा योजना सहित विचार ही अभिव्यक्ति है।

● पूर्वानुषंगिक संकेत-ग्रहण-योग्यता का प्रादुर्भाव, शक्ति की अन्तर्नियामन प्रक्रिया से ही है, यह व्यवहार का विचार में, विचार का इच्छा में, इच्छा का संकल्प में तथा संकल्प का आत्मा में अथवा मध्यस्थ क्रिया में प्रत्यावर्तन ही है।

● अपराध के अभाव में आशा का प्रत्यावर्तन, अन्याय के अभाव में विचार का प्रत्यावर्तन, आसक्ति के अभाव में इच्छा का प्रत्यावर्तन तथा अज्ञान के अभाव में संकल्प का प्रत्यावर्तन होता है।

★ अतः अपराध-हीन व्यवहार के लिए व्यवस्था का दबाव, अन्याय-हीन विचार के लिए सामाजिक आचरण का दबाव तथा

अज्ञान रहित बुद्धि के लिए अन्तर्नियामन अथवा ध्यान का दबाव आवश्यक है, जिससे ही प्रत्यावर्तन क्रिया सफल है अथवा असफल है।

× अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मानवीयतापूर्ण व्यवस्था, सामाजिक आचरण, अध्ययन और संस्कार के साथ ही अन्तर्नियामन आवश्यक है, जिससे चरम विकास की उपलब्धि सम्भव है।

● न्याय पूर्ण व्यवहार, धर्मपूर्ण विचार तथा सत्यानुभूति-परक-इच्छा-सम्पन्न हो जाना ही पूर्ण विकास है या पूर्ण चैतन्य हो जाना है।

● व्यवहार में गलती एवम् अपराध का न होना ही पूर्ण चैतन्य का लक्षण है। इसे मानव की परस्परता में देखा भी जाता है।

★ चैतन्य मानव को आध्यात्मिक (व्यापक पक्ष), आधिदैविक (बौद्धिक पक्ष), और आधिभौतिक (जड़ पक्ष) का दर्शन, अध्ययन व प्रयोग करने का अवसर प्राप्त है।

× आसक्ति, तकनीक, पांडित्य और आवश्यतानुसार मनुष्य ने अवसर का सदुपयोग अथवा दुरूपयोग किया है।

● अल्प-विकसित मनुष्य भी भौतिकीय यान्त्रिकता में निपुणता एवम् कुशलता-सम्पन्न देखने में आते हैं। यह एक रहस्य सा प्रतीत होता है, पर इसका मूल कारण यह है कि भौतिक (जड़) पक्ष सदा ही चैतन्य पक्ष की अपेक्षा अविकसित है ही और विकसित को अविकसित का उपयोग, उपभोग, शोषण एवम् पोषण करने का अधिकार रहता ही है।

× उदाहरणार्थ अमानवीयतापूर्ण व्यक्ति भी भौतिक शास्त्री सिद्ध हुआ है। साथ उसने भौतिक वस्तुओं का उपयोग और उपभोग किया है।

★ बौद्धिक पक्ष में मन, वृत्ति, चित्त तथा बुद्धि की क्रियाएँ

हैं। मन, वृत्ति, चित्त तथा बुद्धि मनुष्य के प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ हैं ही, फिर भी मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि द्वारा शासित कामना की पूर्ति देखने में नहीं आती, अर्थात् मन द्वारा सुख की, वृत्ति द्वारा शान्ति की, चित्त द्वारा संतोष की और बुद्धि द्वारा आनन्द की अनुभूति की सतत् आशा है, फिर भी वह पूर्ण नहीं होती। मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि की आशित कामना की अपूर्ति ही रहस्य के रूप में प्रगट होती है, जो कि दुःख का कारण बनती है।

● इस रहस्य के मूल में अहंकार है।

★ बोध के अभाव में बुद्धि द्वारा लिये गये संकल्प में अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष का रहना अनिवार्य है। फलतः काल्पनिक आरोप संकल्प में होगा ही। संकल्प में यह काल्पनिक आरोप जो होता है, उसी की 'अहंकार' संज्ञा है।

× मन से वृति, वृत्ति से चित्त, चित्त से बुद्धि, विकसित है। अतः इसी क्रमिक अधिकार भेद से उनका परस्पर नियंत्रण है।

● आध्यात्मिक पक्ष में कोई रहस्य नहीं है, क्योंकि व्यापकता की जानकारी नहीं होती, मात्र अनुभूति ही होती है।

● आध्यात्मिक पक्ष में मानवीयतापूर्ण दृष्टि, गुण और विषय पर अधिकार पाने के पश्चात् ही देव मानवीयता तथा दिव्य मानवीयता के लिए जो शेष प्रयास है, उसे करने में साधक प्रवृत्त होता है।

सत्य उद्‌ग

● आत्म-बोध ही आध्यात्मिक उपलब्धि है।

सत्य उद्‌ग

★ अन्तर्नियामन प्रक्रिया द्वारा ही आत्म-बोध होता है, जो ध्यान की चरम उपलब्धि है। यह ही पूर्ण विकास है। ऐसी आत्म-बोध से पूर्ण, विकसित इकाई को पूर्ण चैतन्य की संज्ञा है तथा इन्हें ही देवता की भी संज्ञा है।

● आत्मा की ओर बुद्धि का परावर्तन होते ही आत्म-बोध तथा ब्रह्मानुभूति (व्यापक सत्ता की अनुभूति) एक साथ ही प्रभावशील होती है। प्रभावित हो जाना ही उपलब्धि है। ऐसी उपलब्धि का हो जाना ही बुद्धि को आप्लावित किये रहती है।

● ऐसे ब्रह्मानुभूत इकाई को 'दिव्य मानव' की संज्ञा है, जो सतत प्रेरणा का श्रोत है तथा देवता भी जिनसे मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखते हैं।

● मनुष्य अपना विकास देवात्मा व दिव्यात्मा की प्रेरणा से, अनुग्रह से तथा अनुकम्पा से चाहता है, जिससे वह भी देवत्व तथा दिव्यत्व की उपलब्धि कर सकें।

● विकसित मनुष्य अविकसित मनुष्य का मार्ग-दर्शक है ही तथा मार्ग-दर्शन करता ही है।

● मानव के समक्ष मात्र तीन ही भय हैं, जिससे वह त्रस्त है—१. प्राकृतिक प्रकोपों का भय, २. पशु-भय, ३. मानव में निहित अमानवीयता का भय।

★ पदार्थ विज्ञान के विकास के फलस्वरूप मनुष्य ने प्राकृतिक प्रकोपों से अपने को बचाने तथा पशु-भय से अपने को सुरक्षित रखने का पर्याप्त प्रबन्ध कर लिया है और लगभग इन पर नियंत्रण भी पा चुका है। पर इतने विकास के पश्चात भी आज मानव, मानव में निहित अमानवीयता के भय से त्रस्त है। यह एक रहस्य है।

× मनुष्य को मनुष्य से भय, पर-धन, पर-नारी/पर-पुरुष एवम् परपीड़ात्मक व्यवहार के कारण है। यही मानवीयता में निहित अमानवीयता का भय है। परधन परनारी/परपुरुष एवम् परपीड़ात्मक व्यवहार से द्वेष, आतंक, हिंसा एवम् प्रतिहिंसा उत्पन्न होती है। इनके दमन के लिए मनुष्य ने अनेकानेक प्रक्षेपण, विक्षेपण, विस्फोटक, मारण,

किरण, विकिरण, शक्ति तथा गति समृद्ध अनेक प्रकार के वध एवम् विध्वंसकारी आयुधों एवम् उपकरणों का आविष्कार किया है तथा इनका प्रयोग भी किया है और कर भी रहा है तथा भविष्य में भी प्रयोग करने के लिए आतुर प्रतीत होता है। फिर भी, इनके अर्थात् पर धन, परनारी/परपुरुष एवम् परपीड़ा युक्त व्यवहार से उत्पन्न द्वेष, आतंक, हिंसा और प्रतिहिंसा का दमन नहीं हो पा रहा है और विरोध, द्रोह और विद्रोह दिनों-दिन बढ़ रहा है। चूँकि समस्त व्यवहार विचार के आश्रय में ही हैं, इसलिए इनका अर्थात् पर-धन, पर-नारी/पर-पुरुष और परपीड़ात्मक व्यवहार का दमन जड़ शक्तियों के प्रयोग से संभव नहीं है, क्योंकि जड़ में पाई जाने वाली क्रूरता विचार का ही प्रतिरूप है। इसीलिये यह सिद्ध होता है कि वैचारिक पक्ष के परिमार्जन से ही तथा विकास से ही पर-धन, पर-नारी/पर-पुरुष एवम् पर-पीड़ा युक्त व्यवहार का उन्मूलन संभव है। विचार का परिमार्जन केवल इसके, इससे श्रेष्ठ शक्ति के प्रभाव में आने पर ही संभव है, क्योंकि यह नियम है कि अविकसित विकसित के सान्निध्य से ही विकास की प्रेरणा पाता है व विकास को प्राप्त करता है। विचार पक्ष का परिमार्जन मात्र चित्त-शक्ति के प्रत्यावर्तन से ही सम्भव है, जिससे वैचारिक पक्ष में मानवीयता के प्रति आदर का भाव उत्पन्न होकर तदनुरूप व्यवहार सम्भव हो सकेगा।

× सामाजिकता की 'अपेक्षा' उसके योग्य वैचारिक सम्वेदना से है। वैचारिक परिमार्जन आवश्यक है, क्योंकि सामाजिकता का संरक्षण सम्पर्कों एवम् सम्बन्धों के निर्वाह से है। सामाजिकता का निर्वाह परिमार्जित विचार एवम् सम्वेदनापूर्ण व्यवहार से ही है। ऐसे परिमार्जित विचार

एवम् व्यवहार, मात्र मानवीयता एवम् अतिमानवीयता से समृद्ध होने पर ही, सम्भव हैं।

× जड़ पक्ष पर चैतन्य पक्ष का अधिकार व नियंत्रण है ही। इसी नियंत्रण (ज्ञान) की अनुभूति योग्य क्षमता, योग्यता तथा पात्रता पूर्ण होने तक चैतन्य पक्ष का विकास है, अन्यथा उसके द्वारा ह्रास की स्वीकृति ही है।

× नियंत्रण (ज्ञान या व्यापकता) की अनुभूति के लिये विचार पक्ष की संयमता, विचार पक्ष की संयमता के लिये चित्त-शक्ति का प्रत्यावर्तन, ऐसे प्रत्यावर्तन के लिये दृढ़ता तथा निष्ठा, और दृढ़ता तथा निष्ठा के लिये जड़, चेतन व व्यापक का निर्भ्रम ज्ञान आवश्यक है।

× नीचे संक्षेप में जड़, चैतन्य तथा व्यापक सत्ता के बारे में मूल निर्देशक तत्व दिये गये हैं—

● १. जड़ मरण धर्मा, चैतन्य अमरत्वधर्मा तथा ज्ञान नित्य-धर्मा है।

● २. अनेक परमाणुओं से गठित पिण्ड या अनेक परमाणुओं से गठित अवस्था की 'स्थूल' संज्ञा है।

● ३. परमाणु की 'सूक्ष्म' संज्ञा है।

● ४. आत्मा की 'कारण' संज्ञा है।

● ५. महाकारण की 'व्यापक' संज्ञा है।

★ मनुष्य में बौद्धिक अथवा चैतन्य पक्ष के विकास के अनुसार ही विवेक व विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है। फलस्वरूप अनेक स्तर के बुद्धिजीवी हैं। ज्ञान सर्वत्र (व्यापक) होने के कारण सर्वदा सबको सामान्यतः प्राप्त है। ज्ञान के सम्पर्क के कारण :—

● पदार्थावस्था की इकाईयां इसे पाकर आवेशित,

● प्राणावस्था की इकाईयां इसे पाकर स्पन्दित,

● जीवावस्था की इकाईयां इसे पाकर संवेगित, और

● ज्ञानावस्था की इकाईयां इसे पाकर संवेदित तथा सम्बोधित हैं।

★ उत्तरोत्तर विकसित इकाई में निम्नस्तरीय इकाइयों के गुण निहित रहते ही हैं।

● ज्ञान का उद्घाटन चैतन्य पक्ष अथवा विचारों द्वारा ही होता है।

● विचार पक्ष संस्कारों के आधार पर ह्रास और विकास की ओर गतित है।

● दूसरों के कष्ट, दुःख, वेदना एवम् संकट के प्रति मानव में संवेदना होती ही है, जो ज्ञानानुभूति की सक्षमता के कारण है।

● ज्ञानानुभूति की योग्यता इकाई के विकास पर, इकाई का विकास संस्कारों पर, संस्कारों का विकास वातावरण, अध्ययन व प्रयास पर, वातावरण, अध्ययन व प्रयास मानवीयता, अतिमानवीयता और अमानवीयता के भेद पर, मानवीयता, अतिमानवीयता और अमानवीयता ज्ञानानुभूति की योग्यता पर निर्भर करती है।

● कोषों के विकास भेद से इकाई का योग्यता भेद है। तदनुसार ही दर्शन-प्रभेद है और दर्शन-प्रभेद से ही वैचारिक मतभेद हैं।

● दर्शन-भेद से आसक्ति-भेद, आसक्ति-भेद से प्रयास-भेद, प्रयास-भेद से विकास व ह्रास-भेद, विकास व ह्रास-भेद से अवधारणा-भेद और अवधारणा-भेद से दर्शन-भेद है।

● स्वस्वरूप (आत्मा या मध्यस्थ क्रिया) मन, वृत्ति, चित्त और बुद्धि से अधिक विकसित है। फलस्वरूप ही आत्मा के प्रभाव से पूर्णतया प्रभावित न होने तक, बुद्धि में आनन्दानुभूति, चित्त में सन्तोषानुभूति, वृत्ति में शान्ति की अनुभूति तथा मन में सुखानुभूति नहीं है।

● जो सुखी नहीं है, वह दूसरों को सुखी नहीं कर सकता । जो सुखी नहीं है, वह दुःखी ही होगा तथा जिसके पास जो होगा वह उसी का बंटन कर सकेगा ।

● बुद्धि को आत्मबोध व व्यापकता की अनुभूति का अवसर है । इसीलिये ऐसी अनुभूति के अनन्तर सर्वतोमुखी जानकारी सुलभ है ।

● आत्मा का स्वामी परमात्मा (ज्ञान), बुद्धि का स्वामी आत्मा, चित्त का स्वामी बुद्धि, वृत्ति का स्वामी चित्त, और मन का स्वामी वृत्ति है ।

● विकसित इकाई अविकसित इकाई के अनुरूप व्यवहार व विचार से ह्रास की ओर गतित होती है । जैसे मनुष्य जीवों से विकसित है, पर जीवों के सदृश व्यवहार, विहार एवम् आहार के प्रयास से ही ह्रास की ओर गतित होता है ।

● आसक्तिवश ही गुरु-मूल्य का लघुमूल्य की ओर झुकाव है, जो अव-मूल्यन है । गुरुमूल्य को लघुमूल्य के लिये प्रयोजित एवम् नियोजित करने के लिये भ्रम का रहना अनिवार्य है ।

● यथार्थता से भिन्न अवधारणा ही 'भ्रम' है ।

● 'ह्रास की जानकारी रहते हुये भी विकास के स्पष्ट ज्ञान एवम् निष्ठा के अभाव में मनुष्य विवशता-पूर्वक पतन की ओर गतित है ।

★ अतः उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि किन कारणों से मानव, मानव में निहित अमानवीयता के भय से त्रस्त रहता है और उसका निराकरण क्या है । संक्षेप में अपराधहीन व्यवहार के लिये व्यवस्था का दबाव, अन्यायहीन विचार के लिये सामाजिक आचरण का दबाव, आसक्तिहीन इच्छा के लिये अध्ययन एवम् संस्कार का दबाव तथा अज्ञान रहित बुद्धि के लिये अन्तर्नियामन या ध्यान का दबाव आवश्यक सिद्ध होता है ।

✕ अतः परस्परता में जो रहस्य है उसके उन्मूलन के लिये तथा परस्परता में विश्वास को उत्पन्न करने के लिये, जो विकास के लिये प्रथम सोपान है, मानवीयतापूर्ण सामाजिकता, न्यायपूर्ण शासन, सत्यप्रतिष्ठित शिक्षा एवम् इसमें विश्वासपूर्वक व्यक्तिगत निष्ठा उत्पन्न करना सबका सम्मिलित दायित्व सिद्ध होता है ।

★ ह्रास एवम् विकास का जो क्रम है, वह आवर्तन और प्रत्यावर्तन क्रिया के आधार पर सिद्ध होता है । प्रत्येक मनुष्य विकास ही चाहता है, पर साधारणतया ह्रास को प्राप्त करता है । इसका कारण मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा के बीच आवर्तन और प्रत्यावर्तन क्रिया तथा उसके प्रभाव का ज्ञान न होना ही है, जो रहस्यता के रूप में मानव मन को उद्वेलित किए रहता है । नीचे, उपरोक्त आवर्तन और प्रत्यावर्तन क्रिया के प्रभाव का विश्लेषण है;—

● भ्रान्त अवस्था में प्रधानतः छः प्रकार के संवेगों को पाया जाता है, वे हैं १. काम, २. क्रोध ३. मद, ४. मोह ५. लोभ और ६. मत्सर ।

● इन सबके मूल में आवेश है । आवेश ही मनुष्य के लिए दुख का कारण है ।

● आवेश के मूल में हठ, हठ के मूल में भ्रम और भ्रम के मूल में अहंकार है ।

∷ हठ:— अपने विचार या व्यवहार से पूर्णतः प्रभावित हो जाना हठ है ।

∷ काम:— प्रजनन-क्रिया की 'काम' संज्ञा है ।

∷ क्रोध:— स्वयम् की अक्षमता का प्रदर्शन ही 'क्रोध' है ।

❖ मदः— असत्यता के प्रति मान्यता की पराकाष्ठा ही 'मद' है।

❖ मोहः — मुग्ध हो जाना ही 'मोह' है।

❖ लोभः— पात्रता से अधिक विशेष विभूति के प्रति उत्कट वांछा एवम् प्रयास ही 'लोभ' है।

❖ मत्सरः—दूसरे के ह्रास एवम् पतन हेतु उत्कट कामना 'मत्सर' है।

● मन में आवेश, वृत्ति में हठ, चित्त में भ्रम तथा बुद्धि में अहंकार ही आवर्तन-क्रिया है, और मन में मित्र-आशा, वृत्ति में विचार, चित्त में इच्छा और बुद्धि में संकल्प ही प्रत्यावर्तन-क्रिया है।

● स्व-शक्ति से दूसरे पर प्रभाव डालना 'आवर्तन' है और ग्राहकता द्वारा वातावरण को प्रभावशील बनाना 'प्रत्यावर्तन-क्रिया' है।

● मन एवम् वृत्ति के मध्य में मनः-कृत वातावरण के दबाव से दुःख तथा इसके विपरीत वृत्ति एवम् मन के मध्य में वृत्ति-कृत वातावरण के प्रभाव से सुख की उपलब्धि होती है।

● वृत्ति एवम् चित्त के मध्य में वृत्ति-कृत वातावरण के दबाव से अशांति तथा इसके विपरीत चित्त एवम् वृत्ति के मध्य में चित्त-कृत वातावरण के प्रभाव से शान्ति की उपलब्धि होती है।

● चित्त एवम् बुद्धि के मध्य में चित्त-कृत वातावरण से असंतोष तथा इसके विपरीत बुद्धि एवम् चित्त के मध्य बुद्धि-कृत वातावरण से सन्तोष की उपलब्धि होती है।

● बुद्धि एवम् आत्मा के मध्य में आत्मा का ही वातावरण पाया जाता है क्योंकि आत्मा मध्यस्थ है। यह वातावरण दबावपूर्ण और प्रभावपूर्ण, दोनों रहता है। आत्मा विमुख बुद्धि आत्माकृत वातावरण के दबाव में अनानन्द

की तथा आत्माभिमुख बुद्धि आत्माकृत वातावरण के प्रभाव में आनन्द की अनुभूति करती है।

★ इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि मन और वृत्ति के योग से सुख या दुःख, वृत्ति और चित्त के योग से शान्ति या अशान्ति, चित्त व बुद्धि के योग से संतोष या असंतोष तथा बुद्धि और आत्मा के योग से आनन्द या अनानन्द की अनुभूति होती है।

● आवर्तन-क्रिया में आत्मसत्ता का बुद्धि में, बुद्धि सत्ता का चित्त में, चित्तसत्ता का वृत्ति में तथा वृत्ति-सत्ता का मन में पूर्णतः अवगाहन करने का प्रयास है। चूंकि मन से वृत्ति, वृत्ति से चित्त, चित्त से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा विकसित है, अतः पूर्ण अवगाहन हो ही नहीं पाता, जो आवर्तन-क्रम के अनुसार अनानन्द, असंतोष, अशान्ति और दुःख का कारण बनता है।

● आत्मा, मध्यस्थ-क्रिया होने के कारण प्रभाव ही रहता है, क्योंकि दबाव सम-विषम के मध्य में ही है। प्रभाव मध्यस्थ होने के कारण शून्य है। शून्य मात्र प्रभाव ही है। दबाव केवल क्रिया में है।

● आत्मा मध्यस्थ-क्रिया है। मध्यस्थ-क्रिया का वातावरण भी मध्यस्थ है, यही कारण है कि आत्मा तथा उसके वातावरण पर्यन्त सम अथवा विषम का दबाव नहीं पड़ता है।

● शून्य मात्र अस्तित्व में पायी जाने वाली सत्ता है, इसलिए वह दबाव का कारण सिद्ध नहीं होता। क्रिया के बिना दबाव या प्रभाव सिद्ध नहीं होता। अतः शून्य अथवा व्यापक सत्ता प्रभाव व दबाव दोनों से मुक्त व तटस्थ है। हर इकाई स्वयम् की पात्रता वश ही उसे पाकर गतिशील है।

★ व्यापक सत्ता की सर्वत्र एवम् सर्वकालिक अवस्थिति तथा उसमें समस्त क्रियाओं के आश्रित होने से यह सिद्ध हुआ कि व्यापक सत्ता एवम् क्रिया-सत्ता अन्योन्याश्रित हैं, क्योंकि यह दोनों मूल में साविपरीत रहते हुए भी—जैसे एक इकाई और दूसरा व्यापक—इन दोनों का अलग-अलग अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसीलिए

अन्योन्याश्रयता का रहस्य यहीं समाप्त हो जाता है कि क्रिया अपनी क्षमता, योग्यता तथा पात्रता के अनुरूप ही व्यापकता के नित्य संग की प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के लिये रत है ।

× शून्यस्थ इकाई को गत्यवरोध तथा गति के लिये ऊर्जा का अभाव नहीं है । इसी से सिद्ध होता है कि शून्य का दवाव नहीं है, शून्य सत्ता है, शक्ति है । यह सर्वकालिक है एवम् सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सबको समान रूप से प्राप्त है । इसीलिए, यह सिद्ध होता है कि सभी शून्य से नियंत्रित हैं । यह नियंत्रण ही इकाई की चेष्टा का मूल कारण है । इसीलिए शून्य को 'महाकारण' की संज्ञा से भी जाना जाता है ।

★ बुद्धि के लिए आत्मानुभूति तथा व्यापकता का बोध, चित्त के लिए सत्यबोधपूर्ण बुद्धि का चिन्तन, वृत्ति के लिए यथार्थ चिन्तन पूर्ण चित्त का विचार और मन के लिये न्यायपूर्ण विचारों का मनन ही पूर्ण विकास है, जो प्रत्यावर्तन-प्रक्रिया की उपलब्धि है । इस प्रत्यावर्तन-प्रक्रिया के द्वारा देव मनुष्य तथा दिव्य मनुष्य का जीवन सिद्ध होते पाया गया है । केवल कुछ इकाईयों का विकास तथा अधिकांश का ह्रास एक रहस्य है । इस रहस्यता के मूल में प्रत्यावर्तन-क्रिया है । अधिकांश मनुष्य आवर्तन-क्रिया में व्यस्त होने के कारण ह्रास की ओर गतित हैं और उन्हें अन्यों का विकासशील होना रहस्यमय लगता है, जबकि उसमें कोई रहस्य नहीं है । ह्रास की ओर गतित मानव भी उन्हीं साधनों का उपयोग कर ह्रास को प्राप्त कर रहा है, जिन साधनों के उपयोग से दूसरा व्यक्ति विकास कर रहा है । ह्रास की ओर गतित मनुष्य यह समझ रहा है कि वह साधन-विहीन होने के कारण विकास नहीं कर पा रहा है, पर यह रहस्य उसको समझ में नहीं आता कि साधन वही हैं, मात्र उनकी प्रयुक्ति की दिशा में ही अन्तर है । कोई विकास क्यों कर रहा है, कोई ह्रास की ओर क्यों जा रहा है,

उपरोक्त विवेचन से बिलकुल ही स्पष्ट है । इसमें रहस्य के लिये कोई गुंजाइश है ही नहीं ।

★ समृद्ध व्यक्ति द्वारा असमृद्ध व्यक्ति का जहाँ पोषण करते पाया गया है, वहीं शोषण करते भी पाया जाता है । यहाँ समृद्ध व्यक्ति द्वारा असमृद्ध व्यक्ति का शोषण एवम् पोषण उनके पाँच ऐश्वर्यों का ही होता है । समृद्ध व्यक्ति में शोषण की वृद्धि का होना एक रहस्य सा प्रतीत होता है ।

× जब तक मनुष्य मानवीयता से समृद्ध एवम् प्रतिष्ठित नहीं हो जाएगा, तब तक उसमें शोषण की संभावना का अभाव संभव नहीं है । अतः यह प्रत्याशा ही यहाँ अज्ञानपूर्ण सिद्ध हो जाएगी । जिस स्तर पर किन्हीं विशेष गुणों का स्वभाव-गुण संभव नहीं है, उसकी प्रत्याशा अज्ञानपूर्ण ही सिद्ध है । अज्ञान का उन्मूलन ज्ञान से ही है । अतः यह प्रत्याशाएँ अर्थात् शोषण से मुक्ति और पोषणात्मक प्रवृत्ति जब तक निरर्थक सिद्ध हुई है, जब तक स्वस्थ व्यवस्था, जिसके द्वारा मानवीयता का अध्ययन, समृद्धि एवम् प्रतिष्ठा की पूर्ण संभावना नहीं सिद्ध हो, साथ ही जनजाति में मानवीयता के सुसमृद्धिपूर्वक प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा भी न हो, तब तक इस रहस्यता का उन्मूलन असंभव है, तात्पर्य मानवीयता से सम्पन्न समाज एवम् संरक्षणात्मक व्यवस्था के बिना शोषण प्रवृत्ति का निर्मूलन असम्भव है ।

× शोषण एवम् पोषण दोनों क्रियाएँ हैं । जो क्रिया है, उसका सम्पादन नियमतः ही होगा । नियम स्वयंसिद्ध होते ही हैं । अतः शोषण एवम् पोषण भी नियमतः सम्पादित होने के कारण रहस्य नहीं रह जाते । फिर रहस्य क्या है ?

× शोषण अथवा पोषण क्रिया किसी व्यक्ति द्वारा

सम्पन्न की जा रही है। समस्त क्रियाएँ मूलतः विचारों के आश्रय में ही हैं। मानवीयता पूर्ण विचारों से युक्त क्रिया द्वारा पोषण क्रिया स्वयमेव सम्पादित हो जाती है और इसी प्रकार अमानवीयतापूर्ण विचारों से युक्त क्रिया द्वारा शोषण युक्त हो जाती है। व्यक्ति की समृद्धि के साथ साधारण मानव की यह प्रत्याशा होती है कि उसकी समृद्धि केवल भौतिकता में ही नहीं बल्कि वैचारिकता में भी उसका विकास हो। पर नियमतः यह सिद्ध नहीं होता। चैतन्य-पक्ष, जड़-पक्ष से विकसित होने के कारण उसे उपार्जित करने का अधिकारी है और साथ ही मानव को मानवीयतापूर्ण दृष्टि, गुण व स्वभाव को अर्जित करने का अवसर और साधन भी सुलभ होता है। मानव होते हुए भी अमानवीयतापूर्ण दृष्टि, गुण व स्वभाव जिसमें होगा, वही शोषण करने में समर्थ होगा। वह व्यक्ति वृत्ति में पशु या राक्षस होते हुए भी मानव सा दिखता हुआ अपने में मानवीयतापूर्ण दृष्टि, गुण व स्वभाव का आरोपण कराता है या जिनके द्वारा किया जाता है, वह ही रहस्य है।

★ वर्तमान युग में मनुष्य ने यांत्रिकता तथा इसके आश्रित व्यवस्था को ही विकास माना है। यदि इसे विकास मान भी लिया जाय तो मानव में परस्पर सहयोग, सहकार तथा विश्वास की भावना का भी विकास होना चाहिये तथा पूरे मानव समाज को उत्तरोत्तर एक अखंड इकाई बनाने की ओर इसे गतिशील होना चाहिये। पर ऐसा देखने में नहीं आता। अपितु यांत्रिकता और भौतिक समृद्धि के कारण मानव का विखंडन ही देखने में आता है। विकास के उपलब्धि की एक-सूत्रता होनी चाहिये, न कि विखण्डन। फिर भी हम वर्तमान को भूतकाल से विकसित होने का दावा करते हैं। यह एक रहस्य है।

× मानव जीवन के विकास व ह्रास का अपेक्षाकृत अध्ययन चैतन्य पक्ष में है न कि भौतिकता में। चैतन्य मनुष्य का जीवन यांत्रिक सीमा तक ही सीमित नहीं है। समस्त यांत्रिकता विचार की आंशिकता ही है। अतः मानवीयता पूर्ण तथा अतिमानवीयतापूर्ण विचार, व्यवहार, अध्ययन प्रयोग एवम् व्यवस्था ही एक मात्र मानव समाज की अखंडता का मार्ग प्रशस्त करने में समर्थ है।

वा

× आश्रय के लक्ष्य क्रम से उत्थान तथा आश्रित के लक्ष्य क्रम से पतन सिद्ध हुआ है। जिस साधन से किसी लक्ष्य को पाना है, उस साधन को ही लक्ष्य समझ लेने पर लक्ष्य ओझल रह ही जाता है। आज के वैज्ञानिक युग के मानव ने जड़ता से अपने को इतना सम्बद्ध कर लिया है कि जड़ पक्ष को ही, जो साधन है, लक्ष्य मान बैठा है। यही रहस्य है।

● रहस्य का उन्मूलन इस प्रकार है कि मानव यह समझ ले कि जड़ पक्ष सदा विचार पक्ष के आश्रय में ही है। अतः विचार पक्ष की उपेक्षा न कर इसका एवम् इसकी अपेक्षा में ही समस्त अध्ययन करे।

★ संसार की क्रियाओं में कोई रहस्य नहीं है। अपराध भावना से सम्पन्न क्रियाओं तथा इन क्रियाओं के नियमों का ज्ञान न होना ही रहस्य है। रहस्य वस्तुतः वैयक्तिक स्तर पर है न कि सामाजिक स्तर पर। वैयक्तिक स्तर पर पाले गए रहस्य मनुष्य को अपराध भावना से मुक्त नहीं होने देते, फलतः वह ह्रास की ओर गतित होने के लिए विवश होता है।

× क्रिया के संबंध में जो रहस्य भासता है, उसे तत्संबंधी क्रिया के नियमों को जानने वाले से सम्पर्क या संबंध स्थापित कर दूर किया जा सकता है। अपराध भावना से किए गए कार्य को रहस्य के रूप में अपराधी

छिपाने का प्रयास करता है। पर क्रिया की प्रतिक्रिया होती ही है और अपराध का उद्घाटन होकर ही रहता है। जब तक अपराध का उद्घाटन नहीं होता, तब तक अपराधी अत्यंत पीड़ित रहता है तथा उद्घाटन के पश्चात् भी वह स्वयम् तो पीड़ित रहता ही है, साथ में समाज को भी पीड़ित करता है। अपराध का मूल कारण क्रिया में अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष का आरोपण है, जिसका मूल कारण अज्ञान है।

● अज्ञान के अभाव में ज्ञानोदय ही है।

★ ज्ञानोदय द्वारा रहस्य के उन्मूलन का जो क्रम है, वह प्रकारान्तर से पूर्व-अध्यायों में भी बताया जा चुका है और उसका संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण यहाँ पुनः किया जा रहा है।

● अविकसित के प्रति आसक्ति (आकर्षण) से ही विवशता है, जो विकास को अवरुद्ध करती है।

● अविकसित, विकसित के लिए साधन ही सिद्ध हुआ है और विकसित अविकसित के लिए साध्य।

● साधन का सदुपयोग ही विकास है और उसका दुरुपयोग ही ह्रास है।

● विकसित का एकसूत्रवत अनुकरण तथा अनुसरण ही साधन का

● उद्भव प्रलय की ओर तथा प्रलय उद्भव की ओर गतिशील है, जो सम और विषम प्रक्रिया की सीमा है, अथवा, भौतिकता की सीमा है।

● विश्राम (समाधि) या समाधान बौद्धिकता की सीमा है।

● अध्यात्मिकता की कोई सीमा नहीं है, क्योंकि वह व्यापक है।

● भौतिकता परिणामवादी, बौद्धिकता अमरत्ववादी तथा आध्यात्मिकता नित्यवादी है।

● चैतन्य इकाई के संस्कार-भेद से ही उसकी क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता है।

● क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता के अनुसार ही चैतन्य इकाई ने मानवीयता, अतिमानवीयता और अमानवीयता का उद्घाटन किया है।

● मनुष्य की क्षमता-भेद से, क्रम से बोध, दर्शन, कल्पना, आशा, अवस्था, प्रयास, प्रभाव और मनुष्य की क्षमता है।

● पदार्थ, मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा का नाश नहीं है या अभाव नहीं है। इनमें मात्र विकास का ही न्यूनाधिक्य है।

● पदार्थ परिणामवादी, प्राण तरंगवादी, मन चयनवादी, वृत्ति तुलनवादी, चित्त चित्रणवादी, बुद्धि बोधवादी तथा आत्मा अस्तित्ववादी तत्व है।

● आत्मा तीनों कालों में मध्यस्थ क्रिया के रूप में एक सा विद्यमान है। इसीलिए अस्तित्व में या अस्तित्व का परिवर्तन बुद्धि द्वारा ज्ञात नहीं है।

● स्वस्वरूप तथा परस्वरूप-बोध-भेद से बुद्धि, पूर्ण-अपूर्ण चित्रण-भेद से चित्त, सत्यासत्य, धर्माधर्म, न्यायान्याय, लाभालाभ, हिताहित, प्रियाप्रिय भेद से वृत्ति व प्रवृत्ति, पूर्वानुक्रम या परानुक्रम भेद से मन तथा उसकी चयन क्रियाएँ हैं।

● वृत्ति, चित्त, बुद्धि व आत्मा के अनुकूल प्रेरणा की 'पूर्वानुक्रम' तथा प्राण, हृदय, शरीर और उसके व्यवहार, व्यवसाय के अनुकूल विवशता या दबाव की 'परानुक्रम' संज्ञा है।

● वस्तु व सेवा में आसक्ति से संग्रह, लोभ व कामुकता; प्राण तत्व में आसक्ति से द्वेष, मोह, मद, क्रोध दर्प; जीवत्व (जीने की आशा) में आसक्ति से अभिमान, अज्ञान, ईर्ष्या और मत्सर, सत्य के प्रति निष्ठा से

कर्तव्य में दृढ़ता, असंग्रह, सरलता तथा अभयता व प्रेमपूर्ण मूल-प्रवृत्तियां सक्रिय होती हैं।

● पूर्ण-अपूर्ण भेद से बोध है। स्वस्वरूप के बोध को 'पूर्ण-बोध' तथा उससे (स्वरूप) वंचित को 'अपूर्ण बोध' की संज्ञा है।

● पूर्ण-बोध में भ्रम से मुक्ति तथा अपूर्ण-भेद से ही भोग में आसक्ति तथा भ्रम है।

● पूर्ण-बोध का अवसर इस भूमि पर केवल मानव को ही है, अन्य किसी इकाई को नहीं। इसीलिए मनुष्य उसके बिना सुखी नहीं हुआ है।

● सुख की उपलब्धि ही रहस्य से मुक्ति है।

● स्वस्वरूप की अनुभूति योग की परिपाटी से ही सफल है।

卐 अठारह

● मनुष्य ने अनुभूति में 'सुख शान्ति, सन्तोष और आनन्द' की निरन्तरता पाने का प्रयास किया है।

● अनुभूति के लिये योग आवश्यक है। योग के प्राप्त एवम् प्राप्य दो भेद हैं।

× प्राप्य-योग में किसी के योग में किसी का वियोग भी है। प्राप्त-योग में न किसी का योग है और न ही किसी का वियोग है। प्राप्ति उसी की होगी, जिसका अभाव होगा। प्राप्त-योग से रिक्त मुक्त कोई इकाई नहीं है या क्रिया नहीं है। इसीलिये प्राप्य-योग का ही सानिध्य अथवा संग्रह होता है तथा प्राप्त योग की मात्र अनुभूति होती है।

● प्राप्त योगानुभूति के लिए सुयोग्य क्षमता, योग्यता और पात्रता ही अधिकार है। ऐसी सुयोग्य क्षमता, योग्यता और पात्रता प्राप्त करना ही इकाई के विकास का चरमोत्कर्ष है।

× सुयोग्य क्षमता, योग्यता और पात्रता के लिये मनुष्य ने यथा-सम्भव अध्ययन, प्रयोग, अनुसंधान तथा अभ्यास भी किये हैं, जो मानवीयता और अतिमानवीयता के रूप में परिलक्षित हुआ है।

★ इस दिशा में विकास का परिचय चैतन्य ज्ञानावस्था के विशिष्ठ निर्भ्रान्ति मनुष्यों में ही पाया जाता है, जो देव मनुष्य एवम् दिव्य मनुष्य के रूप में हैं। देव तथा दिव्य मनुष्यों की संख्या वृद्धि के लिए समुचित प्रयोग, अध्ययन, व्यवहार व व्यवस्था के स्तर में एकसूत्रता को अनुस्यूत किया जाना मानव-कुल के लिये अति आवश्यक है, क्योंकि ऐसे विकसित मनुष्यों द्वारा अपराध या अपव्यय की संभावना नहीं है।

● अज्ञान, अत्याशा तथा अभाववश ही मनुष्य अपराध करता है और अविवेकवश ही अपव्यय करता है।

× अपराध और अपव्यय, यह दोनों व्यवहार, मानवीयता और सामाजिकता की दृष्टि से सहायक नहीं हैं।

● मध्यस्थ क्रिया (आत्मा) का अध्ययन तथा अनुसंधानपूर्वक अनुसरण ही एकसूत्रता है। एकसूत्रता न्याय, धर्म तथा सत्यतापूर्वक व्यवहार, विचार एवम् अनुभूति ही है।

● मनुष्य को विचार के अभाव में किसी भी सम-विषमात्मक क्रिया अथवा उससे सम्बन्धित किसी भी अनुभूति की सम्भावना नहीं है। अनुभव के पूर्वानुक्रम और परानुक्रम दो भेद हैं।

● सत्य पहले से ही प्राप्त सत्ता है, जिसकी उपस्थिति विकास के पूर्व भी पाई जाती है और अन्तिम ह्रास भी इसमें ही अवस्थित है। इसी के आनुषंगिक जो अनुभूति है, उसे 'पूर्वानुक्रम' की संज्ञा है। ऐसी अनुभूति में ही मनुष्य ने समाधान एवम् आनन्द की निरंतरता का अनुभव किया है।

● परानुक्रमवर्ती अनुभव ने विकसित के संकेतानुसार चार विषयों, तीनों ईषणाओं से प्राप्त अनुभूति में सुख एवम् समाधान की क्षणभंगुरता की जानकारी भी मनुष्य को प्राप्त है। उपरिवर्णित विषयों में से लोकेषणा सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें केवल पद, विकास, न्याय एवम् विधिवत आचरण ही है। यह सामान्य होने तक यश की संज्ञा से जाना जाता है।

● पूर्वानुक्रम अनुभूति में, निहित क्रिया के रूप में, विकसित का संकेतग्रहण करना है, जिससे विकास की ओर प्रवृत्ति, प्रयास एवम् उद्देश्य का रहना परम आवश्यक है।

● हर इकाई विकासशील है अथवा विकसित होना चाहती है। हर इकाई की चाह, भोग या योग, विकास के लिए ही है एवम् विकास के लिए ही वह आतुर, कातुर, आकुल, व्याकुल, आवेशित अथवा उद्विग्न है।

∷ आतुरः—पात्रता से अधिक इच्छा प्रगट करने का प्रयास।

∷ कातुरः—वांछित इच्छा पूर्ति के लिए शीघ्रता से कार्यरत होना जिसमें कुशलता, निपुणता और पाण्डित्य का अभाव हो।

∷ आकुलः—वांछित के अभाव की पीड़ा का अनुभव।

∷ व्याकुलः—वांछित की पीड़ा से भर जाना।

∷ उद्विग्नः—वांछित-क्रिया में अप्रत्याशित गति।

∷ आवेशः—प्रतिक्रमण या आक्रमण से प्राप्त दबाव ही आवेश है।

∷ विधिवत आचरणः—धर्मनीति एवम् राजनीति सम्मत व्यवहार।

★ परानुक्रम की उपलब्धि, अविकसित का मूल्यांकन तथा उससे संकेत ग्रहण करना ही है, जिसमें आसक्ति एवम् प्रक्रिया सहित उपयोग व उपभोग का उद्देश्य, वांछा, आशा, अभिलाषा, कांक्षा व आकांक्षा का रहना आवश्यक है।

● आस्वादन एवम् अनुभूति के लिए ही मानव द्वारा विभिन्न सभी पक्षों का अनुसंधान, संधान, प्रयोग व व्यवसाय, अभ्यास तथा आविष्कार किया गया है।

∷ आस्वादनः—जो जिसमें नहीं हो या कम हो और उसे पाने की इच्छा हो, ऐसी स्थिति में उसकी उपलब्धि से प्राप्त प्रभावपूर्ण क्रिया की, जिसमें तृप्ति या तृप्ति की प्रत्याशा अवश्य हो, 'आस्वादन' संज्ञा है।

● काम-जन्य क्षुधा तथा तृषा, आवेश-जन्य काम और क्रोध, मन से आशित चार विषय तथा लाभ, विचारों से पोषित व्यवहार एवम् तीन ईषणाएँ, चिन्तन से प्रस्तुत कला एवम् साहित्य, बोधपूर्वक प्रस्तुत तात्विकता तथा समाधान, उत्प्रेरित मनुष्य के द्वारा उद्घाटित हुआ है।

● आत्मा से उत्प्रेरित न्याय और धर्म भी मनुष्य के व्यवहार में अनुशासन तथा विचार में मान्यता के रूप में पाया जाता है और आत्मबोध के अनुभव से भी साम्य-सत्ता, साम्य-स्थिति अथवा ईश्वर की अनुभूति होती है।

● संसार के समस्त क्रिया-कलाप, व्यापकता की अनुभूति विकसित के सान्निध्य और अविकसित के आस्वादन के लिये हैं।

● तद्रूपता, तादात्म्यता, तत्-सान्निध्यता एवम् तदावलोकन ही विकसित की अनुभूति का अन्तिम लक्ष्य एवम् उपलब्धि है।

● इष्ट के रूप, गुण, स्वभाव से प्रभावित होकर स्व-रूप, स्व-गुण व स्व-भाव को भूल जाना ही 'तद्रूपता' है। स्वमूल्य का इष्ट के मूल्य में विलीनीकरण ही तादात्म्यता है, इष्ट का आश्रयभाव ही तत्सान्निध्यता है तथा इष्ट का दर्शन मिलते रहना ही तदावलोकन है।

● तादात्म्यता की 'समर्पण' भी संज्ञा है।

● तदावलोकन प्रक्रिया के आश्रय में, उपलब्धि हेतु स्थापित सम्बन्ध की 'भक्ति या प्रेम' की संज्ञा है। यह तदावलोकन में पाई जाने वाली शीर्ष कोटि की उपलब्धि है अथवा अनुभूति है।

● व्यापकता की अनुभूति में प्रत्यावर्तन से प्राप्त आप्लावन (प्रभाव व प्रवाह) बुद्धि, चित्त, वृत्ति एवम् मन पर्यन्त प्रभावशील है। इस आप्लावन को बुद्धि के स्तर पर आनन्द, चित्त के स्तर पर सन्तोष, वृत्ति के स्तर पर शान्ति तथा मन के स्तर पर सुख की संज्ञा है। यह अनुभूति ही इकाई का चरमोत्कर्ष है।

● व्यापकता की अनुभूति आत्मा करती है, तभी बुद्धि का प्रत्यावर्तन संभव होता है।

● मन का प्रत्यावर्तन वृत्ति से, वृत्ति का चित्त से, चित्त का प्रत्यावर्तन बुद्धि से, बुद्धि का प्रत्यावर्तन आत्मा से तथा आत्मा का प्रत्यावर्तन व्यापक सत्ता से है।

● प्रत्यावर्तन ही विकास का कारण है।

● मनुष्य का विकास बौद्धिक पक्ष में ही है, जो मानवीयता तथा अतिमानवीयता की ओर है।

● विकसित मनुष्य में मध्यस्थ व्यवहार, विचार व अनुभव पाया जाता है।

● मध्यस्थ व्यवहार:—न्यायपूर्ण व्यवहार,

● मध्यस्थ विचार:— धर्मपूर्ण विचार,

● मध्यस्थ अनुभव:—सत्य,

● न्यायपूर्ण व्यवहार ही मानवीयतापूर्ण व्यवहार है। मानवीयता पूर्ण व्यवहार से तात्पर्य है मानवीयता के प्रति निर्विरोधपूर्ण व्यवहार जिसको समझना व समझाना अखंड मानव समाज की दृष्टि से आवश्यक है। इसके लिए अध्ययन व शिक्षा आवश्यक है।

● शिक्षण एवम् प्रशिक्षण द्वारा केवल व्यवसाय का ज्ञान कराया जाता है। यह मात्र भौतिक समृद्धि के लिए सहायक हुआ है।

● मानवीयता और अतिमानवीयता का वर्गीकरण एवम् पुष्टि मनुष्य के साथ किए गये व्यवहार से ही सिद्ध हुयी है, जिसके लिए अध्ययन तथा दीक्षा आवश्यक है।

:: दीक्षा:—सुनिश्चित व्यवहार पद्धति की 'दीक्षा' संज्ञा है, जो व्रत है, जिसकी विश्रृंखलता नहीं है, अथवा, जिसमें अवरोध नहीं है।

● मनुष्य के आहार, विहार व व्यवहार से ही उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन होता है।

:: व्यक्तित्व:—स्वयं में निहित प्रतिभा-प्रसारण के क्रम में स्वयम् का ही आहार व विहार बाधक न हो, ऐसे आहार, विहार व व्यवहार की 'व्यक्तित्व' संज्ञा है।

★ व्यवहार का इष्ट-अनिष्ट, उत्थान-पतन, विकास-ह्रास, उचित-अनुचित, लाभ-हानि, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, विधि-निषेध, कर्तव्य-अकर्तव्य, समाधान-समस्या, आवश्यक-अनावश्यक, भेद-प्रभेद से तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति का मूल्यांकन उसके चैतन्य पक्ष की प्रतिभा का ही मूल्यांकन है, क्योंकि चैतन्य इकाई द्वारा ही जड़ पक्ष का चालन, संचालन, प्रतिचालन, परिपालन, परिपोषण, मूल्यांकन, परिवर्धन व परिवर्तन की क्रिया का सम्पादन हुआ है, जो उसी की इच्छा व विचार का पूर्व रूप है।

नया

:: इष्ट:—इच्छा के अनुकूल मानवीयतापूर्ण उपलब्धि,

:: अनिष्ट:—इच्छा के प्रतिकूल उपलब्धि,

:: उत्थान:—मानवीयता की ओर गति,

:: पतन:—अमानवीयता की ओर गति,

:: ह्रास:—अधिक-मूल्यन से लघु-मूल्यन की ओर परिणाम,

:: विकास:—लघुमूल्य से अधिक मूल्य की ओर परिणाम,

:: उचित:—समय, परिस्थिति तथा घटनाओं के अनुसार मानवीयता या अतिमानवीयता का पोषण।

:: अनुचित:—समय, परिस्थिति तथा घटनाओं के संदर्भ में मानवीयता या अतिमानवीयता का शोषण,

:: लाभ:—कम वस्तु व सेवा के बदले में अधिक वस्तु व सेवा का पाना।

:: हानि:—अधिक वस्तु व सेवा के बदले में कम वस्तु व सेवा का पाना।

:: न्याय:—मानवीयता के पोषण के लिए संपादित क्रिया-कलाप व व्यवहार।

:: अन्याय—मानवीयता के शोषण के लिए किया गया क्रिया-कलाप व व्यवहार तथा अमानवीयतापूर्ण क्रिया-कलाप व व्यवहार,

:: पुण्य:—मानवीयता तथा अतिमानवीयतापूर्ण व्यवहार,

:: पाप:—अमानवीयतापूर्ण व्यवहार,

:: विधि:—सामाजिकता की पोषणवादी नीति,

:: निषेध:—सामाजिकता की शोषणवादी नीति,

:: कर्तव्य:—प्रत्येक स्तर पर प्राप्त सम्बन्ध एवम् सम्पर्क के मध्य निहित मानवीयतापूर्ण आशा व प्रत्याशा का व्यवहार।

:: अकर्तव्य:—प्रत्येक स्तर पर प्राप्त सम्बन्ध एवम् सम्पर्क के मध्य निहित मानवीयतापूर्ण आशा व प्रत्याशा का निर्वाह न करना अथवा अमानवीयता पूर्ण आचरण,

:: समाधान:—प्रत्येक क्रिया के लिए परिशिष्ट एवम् परिमार्जित पद्धति के अनुसरण में वस्तुस्थिति का ज्ञान।

:: समस्या:—समाधान के विपरीत में समस्या, तथा

:: आवश्यक:—मानवीयता तथा अतिमानवीयता की ओर प्रगति,

:: अनावश्यक:—मानवीयता से अमानवीयता की ओर गति,

:: चालन:—स्वरणन,

:: संचालन:—संगठित रूप से चालन,

:: प्रति-संचालन:—प्रति-स्वरणन,

:: प्रतिपालन:—जीवन में व्यतिक्रम का निवारण,

:: परिपोषण:—जीवन-क्रम को निरंतरता प्रदान करना,

:: परिवर्धन:—जीवन के क्रिया-कलाप में सहयोग,

:: मित्र-परिवर्तन:—मनाकार में ढालना।

● मनुष्येतर खनिज, वनस्पति एवम् जीव का उपयोग एवम् उपभोग प्राकृतिक एवम् वैकृतिक भेद से मनुष्य करता है।

● संवेदन, संवहन, संरक्षण, सम्बोधन, संवर्तन, तथा प्रत्यावर्तन-क्रिया चैतन्य पक्ष की विशिष्टता है, जो जड़ में नहीं पायी जाती।

● अध्ययन के मूल में संवेदन का रहना अनिवार्य है। इसी के अनुपात में ही अपूर्ण-बोध, अल्प-बोध, सुबोध एवम् पूर्ण-बोध है। इनके ही प्रभेद से मनुष्य में श्रेणियाँ हैं।

:: संवेदना:—विकास के प्रति वेदना,

:: संवहन:—वेदना-पूर्वक वहन करना,

:: संरक्षण:—विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करना,

:: सम्बोधन:—यथार्थ-बोधन,

:: संवर्तन:—परिमार्जन एवं परिपूर्णता के लिये प्राप्त संकेत के अनुसरण क्रिया की सम्वर्तन संज्ञा है।

:: प्रत्यावर्तन:—विकास की ओर गतिशीलता।

● मनुष्य विकास-क्रम के अनुसार 'दिव्य-मानव, देव-मानव, मानव पशु-मानव एवम् राक्षस-मानव' के रूप में दृष्टिगत होता है।

× मानव से देव-मानव तथा देव-मानव से दिव्य मानव की दिशा में विकास परम्परा है एवम् मानव से पशु मानव और पशु मानव से राक्षस मानव की दिशा में ह्रास परम्परा है।

● मानव के विकास में चैतन्य पक्ष का संस्कार, संस्कृति एवम् सभ्यता ही गण्य है।

● चैतन्य पक्ष की क्रिया की प्रतिक्रिया ही संस्कार है। यह सुसंस्कार एवम् कुसंस्कार दो भेद से है।

:: सुसंस्कार:—मानवीयतापूर्ण मनुष्य द्वारा समूह के साथ, समूह के लिए तथा समूह द्वारा किया गया आवश्यकीय कार्य सुसंस्कार है।

:: संस्कृति:—समूह द्वारा की गई कृति की संस्कार संज्ञा है। इसे ही आवश्यकता तथा अनावश्यकता भेद से 'सुसंस्कृति' या 'कुसंस्कृति' की संज्ञा है।

:: सभ्यता:—मानवीयतापूर्ण व्यवहार की 'सभ्यता' संज्ञा है।

● समाज की अखंडता, मानवीयता की समृद्धि पर निर्भर करती है।

× मानवीयता की समृद्धि व्यक्ति के संस्कार, समाज की संस्कृति, व्यक्ति के जीवन व समाज की सभ्यता तथा समाज के गठन के मूल में पाई जाने वाली विधि एवम् व्यवस्था पर निर्भर करती है।

× मानवीयता तथा अतिमानवीयता से सम्पन्न होने के लिए संकल्प, इच्छा व विचार का परिष्कृत होना आवश्यक है, जो सुसंस्कार ही है।

× सुसंस्कार के लिये वातावरण एवम् अध्ययन ही प्रधान कारण है एवम् सहायक भी है। इसको सुरक्षित

तथा परिमार्जित करने का दायित्व मनीषियों पर है। न्याय-पूर्ण व्यवहार तथा सामाजिकता का दबाव भी सुसंस्कारों के वर्धन में सहायक है।

नवा

● न्यायपूर्ण व्यवहार-पक्ष, समाधान पूर्ण विचार-पक्ष तथा सत्यानुभूति पूर्ण अनुभव-पक्ष को भाषा द्वारा बोधगम्य, ज्ञानगम्य तथा व्यवहार-गम्य बनाने का प्रयास अनुभवशील सत-पुरुषों अथवा सहज-वृत्ति सम्पन्न व्यक्ति द्वारा किया जाता है।

:: सहजता:—व्यवहार, विचार, एवम् अनुभव की एकसूत्रता ही सहजता है।

:: सहज वृत्ति:—सहजता को प्राप्त मनीषियों की वृत्ति को ही 'सहज-वृत्ति' की संज्ञा है।

:: न्यायपूर्ण व्यवहार:—व्यापकता का भास,

:: समाधानपूर्ण विचार:—व्यापकता का आभास,

:: ज्ञानानुभूति:—व्यापकता की अनुभूति।

● ज्ञानानुभूति के लिए इष्ट के प्रति निर्भ्रम ज्ञान, अनन्यता, अनुराग तथा प्रेम के योग्य क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता का होना अनिवार्य है, जो साधक के न्याय-पूर्ण व्यवहार, समाधान-पूर्ण विचार से अथवा किसी अनुभवशील इकाई के आज्ञा पालन में पूर्ण निष्ठा से सिद्ध है।

:: निर्भ्रम ज्ञान:—जो जैसा है, उसको वैसा ही जानना व समझना।

:: अनन्यता:—निर्भ्रम ज्ञान की निरंतरता।

:: अनुराग—अनन्यता की निरंतरता।

:: प्रेम—अनुराग की निरंतरता।

● प्रेम की निरंतरता से ही साधक तद्रूप भाव को प्राप्त होकर मुक्ति का अधिकारी होता है।

● अनादिकाल से व्यापक परमात्मा मिला हुआ ही है, उसकी अनुभूति ही इकाई के लिये सान्निध्यानुभूति है।

● अनुभूति की स्थिति को ही 'कैवल्य' या 'तादात्म्य' अनुभूति की संज्ञा है, जिसमें क्लेश, हर्ष, बन्धन, आभास, भास नहीं रहता।

★ व्यष्टिगत एवम् समष्टिगत व्यवहार शरीर, प्राण, मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, अहंकार तथा आत्मा के क्रम से सजातीयता में हैं। इसीलिए समष्टित्व व्यष्टि की ओर व्यष्टित्व समष्टि की परस्पर अपेक्षाओं के रूप में है। फलस्वरूप ही एकसूत्रात्मक समन्वयता को पाने, पालन करने एवम् प्रतिपालन करने की आवश्यकता मनुष्य जाति में है और उसके योग्य नियमों का अध्ययन व प्रयोग करना ही समाज का प्रधान कार्यक्रम है।

★ व्यवहार, शरीर तथा प्राण ये जड़ क्रियाएँ हैं व संरचनाएँ हैं और शरीर के क्रिया कलाप तथा व्यवहार के लिए चैतन्य पक्ष का रहना अनिवार्य है।

● जब ईश्वरीय महत्ता, व्यापकता और महिमा के अनुभव से स्व-स्वरूप (आत्मा) मग्न हो जाता है, तब उसके प्रतिफल के रूप में बुद्धि, चित्त, वृत्ति और मन पर उस महिमा की प्रसारण-क्रिया बिम्ब–प्रतिबिम्ब-अनुबिम्ब-न्याय से प्रभाव डालना आरम्भ करती है। ऐसी अनुभूति के लिए प्रत्यावर्तन-क्रिया भी एक प्रधान उपाय तथा अनुभव के रूप में सिद्ध हुयी है।

● इकाई का अधिकतम विकसित अंश आत्मा ही है, क्योंकि हर अवस्था के परमाणु में मध्यांश, मध्यस्थ-क्रिया में व्यस्त है और अन्य सभी अंग सम या विषम क्रिया में व्यस्त पाए जाते हैं।

● जानकारी की आंशिकता में क्रिया, क्रिया की आंशिकता में भोग, भोग के अनुपात में अनुभव और इसके अतिरिक्त अनुमान के कारण ज्ञानवर्धन सम्पन्न हुआ है। मूल में अधिक ज्ञान-व्यंजना का अधिकार आत्मा में है।

● अज्ञान, आलस्य, अत्याशा, आक्रोश, आवेश, प्रलोभन, अभाव व रोग पक्ष ही दुःख का कारण है।

● ह्रासांश में स्थित इकाई के लिए दो कारण हैं:—प्रथम है, अविकास तथा द्वितीय है, शक्ति का अपव्यय।

● अविकसित को विकासशील बनाना ही सामाजिकता का एक महत्व-पूर्ण उद्देश्य और कार्यक्रम है।

तथा

★ जो जिसका अधिक मूल्य समझता है, उसी के लिए वह अपने तन, मन, व धन का व्यय करता है। ऐसी मूल्यांकन-क्रिया मनुष्य के द्वारा निर्भ्रान्ति, भ्रान्ताभ्रान्त और भ्रान्त अवस्था-भेद से होती है, जिसके कारण ही कुछ 'मनुष्यों' ने चार विषयों को, कुछ 'मनीषियों' ने तीन ईषणाओं को, और कुछ 'विशेषज्ञों ने जीवन मुक्ति को परमावधि मूल्यांकित किया है। इस मूल्यांकन के अनुरूप ही विभिन्न स्तर के मनुष्यों द्वारा समस्त साधनों का नियोजन किया गया है और मानव-कुल में वैविध्यता का यही कारण है।

× मानव-कुल में निहित वैविध्यता का निराकरण केवल न्यायपूर्ण व्यवहार नीति से संभव हुआ है।

× भ्रान्त स्थिति से की गयी मूल्यांकन क्रिया को 'अज्ञान', भ्रान्ताभ्रान्त स्थिति से किए गए मूल्यांकन की 'आसक्ति' तथा निर्भ्रान्ति स्थिति से किए गए मूल्यांकन स्थिति की 'यथार्थ' संज्ञा है।

× यथार्थ मूल्यांकन-क्षमता ही अनासक्ति, अनासक्ति ही दर्शन की पूर्णता, दर्शन की पूर्णता ही सन्तुलन, पूर्ण-संतुलन ही ज्ञान, ज्ञान ही व्यापकता की अनुभूति, व्यापक की अनुभूति ही निर्भ्रमता और निर्भ्रमता से ही यथार्थ मूल्यांकन क्रिया निःसृत होती है। ऐसी इकाई में न्याय-पूर्ण व्यवहार और धर्म-पूर्ण विचार स्वभाव के रूप में परिलक्षित होता है।

× जो जिससे आसक्त है, वह उसको मूल्यवान दिखाई देता है। भ्रान्त तथा भ्रान्ताभ्रान्त स्थिति तक

यथार्थ मूल्यांकन संभव नहीं है। इसीलिए समस्त भ्रान्त तथा भ्रान्ताभ्रान्त इकाईयों के ह्रास की ओर गतित होने की संभावना बनी ही रहती है। केवल निर्भ्रान्त इकाई द्वारा अपव्यय की संभावना निःशेष हो जाती है।

● अनुभव के लिए जानकारी, जानकारी के लिए अनुभूति, इच्छा के लिए जानकारी और जानकारी के लिए इच्छा, इच्छा के लिए क्रिया और क्रिया के लिये इच्छा, भोग के लिये क्रिया और क्रिया के लिए भोग, क्रिया के लिए व्यवसाय और व्यवसाय के लिए क्रिया व्यस्त है।

✕ इस अनुलोम-विलोम पद्धति से ही अनेकानेक बौद्धिक स्तर हैं और तदनुसार ही मनुष्य मानवीयतापूर्ण, अतिमानवीयतापूर्ण और अमानवीयतापूर्ण विचारानुसार व्यवहार को व्यक्त करता रहा है व व्यवहार में रत है।

● रूप क्रिया की गणना काल, सम्वेग, वेग, विसर्जन, गुण व स्वभाव के अनुसार स्थूल व सूक्ष्म भेद से है, जो मनुष्य की जानकारी (बुद्धि) में भाव, इच्छा में प्रतिभाव, विचार में अनुभाव, मन में सम्वेग के रूप में व्यक्त होती है।

● सुरूप व कुरूप के भेद से रूप, जड़ व चैतन्य के भेद से क्रिया, लोक व लोकेश के भेद से लक्ष्य, विषय व निर्विषय के भेद से ज्ञान, विधि व निषेध के भेद से कर्म, विहित व अविहित भेद से भाषा है।

● अवस्था-भेद से आसक्ति, आसक्ति-भेद से आवश्यकता, आवश्यकता-भेद से श्रम, श्रम-भेद से व्यवसाय, व्यवसाय-भेद से अनुभव, अनुभव-भेद से परिणाम, परिणाम-भेद से ही क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता, क्षमता, योग्यता एवम् पात्रता-भेद से सहजात्मक, लोकात्मक (ईषणात्मक) और विषयात्मक प्रवृत्तियाँ तथा इन तीनों अथवा इनके मिश्रित बौद्धिक अवस्था में ही जीवन चित्रण की अभिव्यक्ति की समर्थता है।

● सहजता प्राप्त मानव जीवन में विश्राम का तथा लोकासक्त जीवन में श्रम का अनुभव है अर्थात इसमें विश्राम का प्रतिभास तक नहीं है।

● मनुष्य ने अपनी क्षमता, योग्यता और पात्रता के अनुसार सहजोन्मुखता में नित्यता का, लोकोन्मुखता में अमरत्व का और विषयोन्मुखता में अनित्यता का अनुभव किया है। सहजता में दिखावा, रहस्य तथा अविद्या का पूर्ण अभाव होता है। इसीलिए वह विकार से मुक्त है। साथ ही इस स्थिति विशेष में निरंतर तृप्ति, समाधान और विश्राम का अनुभव है।

● लोकेषणा ही श्रेष्ठ ईषणा है, क्योंकि यश पाने के लिए पद सहित धन एवम् जन बल का नियोजन इसमें होता है। इसके लिए वीरता, उदारता और दयामय स्वभाव रहना अति आवश्यक है। यह मानवीयता की श्रेष्ठ कोटि की उपलब्धि है। ऐसे मनुष्य, समाज के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। यह विकास अमानवीयता से मानवीयता में है।

● चारों विषय इन्द्रिय-तृप्ति से सीमित हैं। स्थूल शरीर मात्र की मृत्यु निश्चित है। इसीलिए विषयों से प्राप्त सुख की निरंतरता नहीं है।

● सहजता, विवेक व विज्ञान से है, तथा व्यापकता एवम् समाधान में निहित है। लोकासक्ति विज्ञान से ससीमित तथा समस्या-व समाधानकी निरंतरता में है और विषयासक्त ज्ञान-विज्ञान से केवल समस्या ही है, जो ईर्ष्या व द्वेष में व्यस्त है।

● उद्देश्य-भेद से प्रयास-भेद, प्रयास-भेद से साधन-भेद, साधन भेद से उपयोग-भेद, उपयोग-भेद से फल-भेद, फल-भेद से अधिकार-भेद और अधिकार-भेद से उद्देश्य-भेद है।

● समस्त साधनों की गणना अन्तरंग और बहिरंग भेद से है।

∷ बहिरंग साधनः—शरीर व उससे उत्पन्न या उत्पादित समस्त वस्तुएँ बहिरंग साधन हैं।

∷ अंतरंग साधनः— मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, आत्मा व उससे उत्पन्न संकल्प, इच्छा, विचार व आशा अंतरंग साधन हैं।

● शरीर का साध्य मन, मन का साध्य वृत्ति, वृत्ति का साध्य चित्त, चित्त का साध्य बुद्धि, बुद्धि का साध्य आत्मा और आत्मा का साध्य परमात्मा है।

:: साध्यः—जिसको पाना है।

:: साधनः—साध्य को पाने हेतु आवश्यक प्रयुक्ति, उपाय, एवं वस्तु।

:: साधकः—साध्य को पाने हेतु साधन को जो प्रयुक्त करता है।

● जिसका विकास शेष है, उसी को शेष विकास को प्राप्त करने के लिये साधन की आवश्यकता है।

● परमात्मा (मध्यस्थ सत्ता) को क्रिया व परिणाम से मुक्त होने के कारण किसी साधन या साध्य की अपेक्षा नहीं है।

● आत्मा का पूर्ण विकास (ज्ञान की पारदर्शकता) परमात्मा की अनुभूति में, बुद्धि का पूर्ण विकास आत्मा के संकेत-ग्रहण-क्षमता से, चित्त का पूर्ण विकास बुद्धि के संकेत-बोध की सत्यसाक्षी में कलाकरण योग्य क्षमता से, वृत्ति का पूर्ण विकास चित्त के संकेत-ग्रहण अर्थात धर्म-पूर्ण विचार-निर्माण-योग्यता से तथा मन का पूर्ण विकास वृत्ति का संकेत ग्रहण कर न्यायसम्मत व्यवहार-पात्रता अर्जित करने से है।

● मन, वृत्ति, चित्त व बुद्धि यह चार आत्मा के अभिन्न अंग हैं। मन, वृत्ति, चित्त, व बुद्धि की निर्भ्रम अवस्था में पाई जाने वाली विभूतियाँ निम्नानुसार हैं:—

● धृति, धी आनन्द और संकल्प यह चार बुद्धि की, श्रुति स्मृति, मेधा, श्री, सन्तोष, कला, शान्ति व इच्छा यह आठ चित्त की, विद्या, प्रज्ञा, विचार, कीर्ति, धैर्य, शान्ति, दया, दम, कृपा, करुणा, उत्साह, कल्पना, भाव, श्रद्धा, क्षमा, अनुराग, निश्चय और जाति यह अठारह वृत्ति की तथा शब्देन्द्रिय द्वारा आचरित भक्ति, प्रेम, वात्सल्य, हास्य, श्रृंगार, वीभत्स, रौद्र, वीर व शोक, स्पर्शेन्द्रियों द्वारा आचरित कठोर व मृदु, रूपेन्द्रिय द्वारा आचरित पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, स्वामी-सेवक, सखा, गुरू, शिष्य, काल व गति, रसनेन्द्रिय द्वारा आचरित खट्टा, मीठा, खारा कडुवा चरपरा और कसापन तथा गन्धेन्द्रियों द्वारा आचरित सुगंध व श्वसन यह मन की बत्तीस विभूतियाँ हैं:—

● अस्तित्व एवम् परमानन्द आत्मस्थ अनुभूति है।

:: अस्तित्वः—नाश रहित गुण।

:: परमानन्दः—आत्मा की पारदर्शकता अथवा परमात्मा या व्यापकता की अनुभूति।

:: आनन्दः—मध्यस्थ क्रिया का पूर्ण-बोध या आत्मबोध।

:: धृतिः—भय का अभाव।

:: धीः—ज्ञान-ग्रहण एवम् प्रभावीकरण क्षमता।

:: संकल्पः—निश्चय की निरंतरता।

:: श्रुतिः—यथार्थ जानकारी का भाषाकरण।

:: स्मृतिः—बार बार आवश्यकतानुसार, भाषापूर्वक जानकारी का प्रस्तुतीकरण।

:: मेधाः—कला को धारण करने वाली क्रिया।

:: श्रीः—समृद्धि की स्वीकृति।

:: सन्तोषः—अभाव का अभाव।

:: कलाः—उपयोगिता योग्य सुंदर क्रिया।

:: क्षान्तिः—अज्ञान को क्षीण करने वाली प्रक्रिया।

:: इच्छाः—वांछित एवम् इप्सित के प्रति सजगता।

:: विद्याः—जो जैसा है, उसको वैसा ही स्वीकार करना।

:: प्रज्ञाः—यथार्थ की पूर्ण अनुमान क्रिया।

:: कीर्तिः—विकास की ओर सक्रियता।

:: विचारः—स्फुरण पूर्वक सत्यता को उद्घाटित करने हेतु की गई क्रिया।

:: निश्चयः—सत्यतापूर्ण विचार की निरंतरता।

∷ धैर्य:—न्यायपूर्ण विचार की निरंतरता।

∷ शान्ति.—समाधान पूर्ण विचार की प्रतिक्रिया।

∷ दया:—दूसरे के विकास में हस्तक्षेप न करना।

∷ दम:—ह्रास की ओर जो आसक्ति है, उसकी समापन क्रिया।

∷ कृपा:—दूसरे के विकास के लिए सहायता अथवा पात्रता अर्जित करने में सहायक होना।

∷ करुणा.—विकास के लिए उत्प्रेरित करना अथवा विकास के लिए योग्यता और पात्रता अर्जित करने में सहायक होना।

∷ उत्साह:—विकास के लिये सजगता।

∷ कल्पना:—मान्यता का पूर्व रूप।

∷ भाव: —मूल्यांकन

∷ श्रद्धा: —श्रेय की ओर गतिशीलता।

∷ क्षमा:—विकास के लिए की जाने वाली सहायता के समय उसके ह्रास पक्ष से अप्रभावित रहना।

∷ अनुराग:—निर्भ्रम ज्ञान की निरंतरता की अनन्यता।

∷ जाति:—रूप, गुण, स्वभाव व धर्म की विशिष्टता।

● चैतन्य इकाई में पाई जाने वाली क्रिया एवम् आचरण निम्नानुसार अनुभव में आता है।

क्रिया	आचरण
आत्मा	
१. अस्तित्व	१. परमानन्द
बुद्धि	
१. सत्य बोध	१. आनन्द, २. धृति, ३. धी. ४. संकल्प।
२. असत्य बोध	१. अनानन्द, २. भय, ३. अहंकार ४. विकल्प।

चित्त

क्रिया	आचरण
१. रूप, २. गुण, ३. गणना, ४. काल, ५. विस्तार, ६. श्रम, ७. गति, ८. परिणाम।	१. श्रुति, २. स्मृति, ३. मेधा ४. श्री, ५. संतोष, ६. कला, ७. शांति, ८. इच्छा।

● चित्त की आठ क्रियाओं और आचरणों के विलोम में भी आठ क्रियाएँ और आचरण उपलब्ध हैं।

वृत्ति

क्रिया	आचरण
१. प्रिय, २. हित, ३. लाभ, ४. न्याय, ५. धर्म, ६. सत्य।	१. विद्या, २. प्रज्ञा, ३. कीर्ति, ४. विचार, ५. निश्चय, ६. धैर्य, ७. शान्ति, ८. दया, ९. दम, १०.कृपा, ११.करुणा, १२. उत्साह, १३.कल्पना, १४,भाव, १५.श्रद्धा, १६.क्षमा, १७.अनुराग, १८.जाति।

● वृत्ति की उपरोक्त छः क्रियाओं एवम् अठारह आचरणों के विलोम में भी छः क्रियाएँ और अठारह आचरण उपलब्ध हैं।

मन

क्रिया	आचरण
१. आस्वादन एवम् २. चयन। उपरोक्त क्रियाएँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धेन्द्रियों द्वारा सम्पादित होती हैं।	शब्देन्द्रिय—१. भक्ति, २. प्रेम, ३. वात्सल्य, ४. हास्य, ५. श्रृङ्गार, ६. वीभत्स, ७. रौद्र, ८. वीर, ९. शोक।
	स्पर्शेन्द्रिय—१०. कठोर एवम् ११. मृदु।
	रूपेन्द्रिय—१२. पति-पत्नी, १३. माता-पिता, १४. पुत्र, १५. पुत्री,

१६. भाई, १७. बहिन,
१८. स्वामी, १९. सेवक,
२०. सखा, २१. गुरु,
२२. शिष्य, २३. काल,
२४. गति ।

रसनेन्द्रिय—२५. खट्टा, २६. मीठा,
२७. कड़ुवा, २८. खारा,
२९. चरपरा,
३०. कसैलापन ।

गन्धेन्द्रिय—३१. सुगंध और
३२. दुर्गन्ध ।

● मन को जो प्रिय हो, उसके चुनाव की प्रक्रिया को चयन संज्ञा हैं ।

★ दोष रहित व्यवहार तथा व्यवसाय के समत्व में सह-अस्तित्व तथा समृद्धि, शरीर तथा हृदय के समत्व में तृप्ति, हृदय तथा प्राण के समत्व में आरोग्य तथा पुष्टि, प्राण एवम् मन के समत्व में बल तथा स्फूर्ति, मन व वृत्ति के समत्व में सुख, वृत्ति व चित्त के समत्व में शांति, चित्त व बुद्धि के समत्व में संतोष, बुद्धि व आत्मा के समत्व में आनन्द, आत्मा तथा परमात्मा में नित्य समत्व है ही । इसीलिए परमानन्द की अनुभूति व उपलब्धि है ।

● परमानन्द की उपलब्धि ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है ।

—★—

06/03/2006

श्रद्धेय नागराजजी के अनुसार मानव चेतना
की संज्ञा अनुभव के उपरांत ही दिया
जाएगा। अनुभव के पश्चात प्रमाणित करने
के क्रम में मानव चेतना, देव, दिव्य
मानव अनुभव में समान रहते प्रमाणित
करने में श्रेष्ठता को दर्शाएंगे।
अर्थात उल्लेखित मानव, देव मानव
को आशावादी एवं बोध कि
स्थापित मानव। श्रेष्ठ।
इसपर पुनर विचार एवं संशोधन
कि आवश्यकता, प्रतीत हो रही है
मध्यस्थजी से यह बात छूटी नहीं
हो पाई।